विद्या-भवन गृह-भारती--५

संपादक--पूर्वन्यायाधीश श्री चन्द्रभान अग्रवाल

भाषा-विज्ञान और हिन्दी

लेखक

डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल

रीडर, हिन्दी-विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय



एकाधिकारी वितरक



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली • इलाहाबाद • बम्बई • पटना • मद्रास

प्रथम संस्करण १९५७

मूल्य [illegible]

प्रकाशक—भारतीय विद्या भवन, इलाहाबाद ।

मुद्रक—पं० मदन मोहन शुक्ल 'मदनेश',

साहित्य मन्दिर प्रेस प्रा० लिमिटेड, लखनऊ ।

प्रकाशकीय

आधुनिक युग विज्ञान-प्रधान है । सभी प्रकार के अध्ययन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रधानता दी जाती है और यह उचित भी है क्योंकि इससे विषय का अध्ययन सहज और सरल हो जाता है। देश की राष्ट्रभाषा और लिपि के निर्माण में भाषाविज्ञान संबन्धी अध्ययन अत्यंत उपादेय सिद्ध होता है। यही क्यों, किसी भी भाषा के अध्ययन और शिक्षण में भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण महत्वपूर्ण योग देता है। अतएव भाषा-विज्ञान का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है ।

भारतवर्ष में भाषा संबन्धी गवेषणा सबसे प्राचीन बताई गई है । यहां के वैयाकरणों के अध्ययन का भाषाविज्ञान की दिशा-निर्धारण में विशेष महत्व है। भारत स्वाधीन होने के उपरान्त राष्ट्रभाषा तथा भाषा-शास्त्रीय अध्ययन का महत्व बढ़ गया है। इसी उद्देश्य से प्रस्तुत पुस्तक की रचना की गई है। इसके लेखक डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, लखनऊ विश्वविद्यालय में अनेक वर्षो से भाषाविज्ञान के कुशल अध्यापक हैं । उन्होंने भाषा के वैज्ञानिक तत्त्वों को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। साथ ही हिंदी भाषा से संबन्धित अध्ययन-शब्द-समूह, विभाषाएं, राष्ट्र-भाषा, लिपि आदि की आवश्यक विवेचना की है।

पुस्तक साधारण पाठकों को ही दृष्टि में रखकर लिखी गई है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से यह ग्रन्थ पूर्णरूप से व्यावहारिक है और भाषा संबन्धी नवीनतम दृष्टिकोणों से समन्वित है।

हमें विश्वास है कि यह पुस्तक हिन्दी और भारतीय भाषाओं के पाठकों के लिए रोचक और उपयोगी सिद्ध होगी।

नई दिल्ली, चन्द्रभान अग्रवाल

१५-१२-५७

प्राक्कथन

भाषा-विज्ञान से सम्बन्धित साहित्य हिन्दी में अभी इतना कम है कि इस विषय के किसी भी नए ग्रन्थ को देखकर मुझे प्रसन्नता होती है, विशेषतया ऐसी रचना को देखकर जो इस विषय के अनुभवी अध्यापक ने लिखी हो। इस दृष्टि से मैं डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल के इस विषय के नवीन ग्रंथ 'भाषा विज्ञान और हिन्दी' का स्वागत करता हूँ।

भाषा-विज्ञान तथा हिन्दी भाषा का इतिहास पृथक प्रश्नपत्र के रूप में लगभग समस्त विश्वविद्यालयों में एम० ए० के पाठ्य-क्रम में है। प्रस्तुत पुस्तक को एम० ए० के विद्यार्थी व्यवहारिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी पावेंगे, क्योंकि योग्य लेखक ने इस विषय के अपने दीर्घकालीन अध्यापन के अनुभव के आधार पर उन समस्त महत्वपूर्ण विषयों का विवेचन स्पष्ट और क्रमबद्ध रूप में अपनी कृति में किया है जिनकी इस विषय के विद्यार्थियों को आवश्यक्ता होती है।

भाषाविज्ञान तथा हिन्दी भाषा का इतिहास ये दो संबद्ध किन्तु भिन्न विषय हैं। फलस्वरूप इन विषयों की प्रकाशित पुस्तकें साधारणतया पृथक हैं। प्रारम्भ में डा० श्यामसुन्दर दास तथा डा० मंगलदेव शास्त्री ने भाषाविज्ञान सम्बन्धी अपने ग्रन्थों में दोनों विषयों का विवेचन साथ साथ किया था। हिन्दी में कदाचित यह तीसरी पुस्तक है जिसमें उच्च कक्षा के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए दोनों विषयों का विवेचन एकत्र किया गया है।

मैंने ग्रन्थ का अधिकांश भाग पढ़ा। मुझे यह देखकर बहुत संतोष हुआ कि डा० अग्रवाल ने इस दुरूह विषय को सरल और सरस बनाने का यत्न किया है और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है, अतः हिन्दी का साधारण पाठक भी प्रस्तुत पुस्तक को रोचक और ज्ञानवर्धक पावेगा। इस सफलता के लिए मैं डा० अग्रवाल को हार्दिक बधाई देता हूँ।

मुझे पूर्ण आशा है कि सुयोग्य और अनुभवी लेखक द्वारा अन्य ग्रन्थों का भी प्रणयन होगा और इस प्रकार हिन्दी साहित्य की यह धारा अधिकाधिक सम्पन्न हो सकेगी।

नवम्बर, १९५७ धीरेन्द्र वर्मा

विश्वविद्यालय, प्रयाग

भूमिका

आज के शिक्षित भारतीय जन-समुदाय में भाषा के अध्ययन की रुचि पहले की अपेक्षा अधिक है, क्योंकि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के बाद मानव अपने सभी क्षेत्रों की ओर जागरूक है। भारतवर्ष में सैकड़ों भाषाओं का प्रयोग होता है और भाषाओं की गुत्थियों को सुलझाने की ओर प्रयत्नशील होना स्वाभाविक ही है। पाश्चात्य देशों की भांति आधुनिक काल में भारत में भी भाषा का अध्ययन तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक रूप में किया गया है। इस प्रकार के अध्ययन के लिये एक से अधिक भाषाओं के जानने की आवश्यकता होती है, परन्तु ऐसी जानकारी सब के लिये सहज नहीं होती। अतएव कतिपय भाषा-शास्त्रियों ने भाषा के अध्ययन की पाणिनीय पद्धति का पुनरुद्धार किया है क्योंकि वर्तमान-कालीन प्रवृत्ति भाषा के विवरणात्मक अध्ययन की ओर अधिक है। इसे अधिक व्यापक बनाने में डेकन कालेज, पूना का विशेष हाथ है और इसका भारी श्रेय डा० सुमित्र मंगेश कत्रे को है।

भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन से संबंधित अनेक पुस्तकें सामान्य सिद्धांतों और कतिपय प्रादेशिक भाषाओं के ऐतिहासिक तथा व्याकरणिक विवेचन की दृष्टि से हिन्दी में लिखी गई हैं परन्तु वर्णनात्मक पद्धति को स्पष्ट करने वाली पुस्तकों का अब भी अभाव है। भाषा के पूर्ण अध्ययन के लिये दोनों पक्षों—ऐतिहासिक और विवरणात्मक, के समन्वय की आवश्यकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों का आश्रय लिया गया है। पुस्तक का उद्देश्य भाषा के सामान्य सिद्धांतों तथा हिन्दी भाषा संबंधी विवेचन को एक साथ प्रस्तुत करना है।

हमारे विचार से हिन्दी में अभी तक इस ढंग की कोई पुस्तक नहीं है। पुस्तक सामान्य पाठकों को ही दृष्टि में रखकर लिखी गई है। इसे व्यावहारिक तथा सरल रूप देने का भी यत्किंचित प्रयत्न किया गया है।

लेखक को भाषा के अध्ययन की प्रेरणा सर्वप्रथम श्रद्धेय गुरुद्वय प्रो० के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर (वर्तमान उपकुलपति, लखनऊ विश्वविद्यालय) तथा डा०दीनदयालु गुप्त (प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,हिन्दी विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय) से मिली । तदनंतर कलकत्ता विश्वविद्यालय में गण्यमान भाषा-शास्त्री डा० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा डा० सुकुमार सेन के चरणों में बैठकर भाषा-विज्ञान का नियमित अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । पुस्तक में जो कुछ भी है वह सब इन गुरुजनों का प्रसाद है तथा लब्धप्रतिष्ठ भाषा-शास्त्रियों की रचनाओं का सार मात्र है । हाँ,यह अवश्य है कि आवश्यक स्थलों पर अपने निष्कर्षों तथा विचारों को प्रकट करने का मोह लेखक संवरण न कर सका, यही पुस्तक का मौलिक अंश है । श्रद्धेय डा० धीरेन्द्र वर्मा तथा डा० बाबूराम सक्सेना इन दो भाषा-महारथियों का मुझ पर बराबर स्नेह रहता है और उनसे भाषा संबंधी कार्य में मुझे बराबर प्रेरणा मिलती रहती है । डा० वर्मा जी के प्राक्कथन ने पुस्तक का मूल्य और भी बढ़ा दिया है । मैं उनकी इस कृपा के लिये अत्यंत आभारी हूँ । मेरे शिष्य और सहयोगी मित्र श्री रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल ने भाषा के विवरणात्मक पद्धति संबंधी सुझावों से पुस्तक को उपयोगी बनाया है । इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं ।

अंत में मैं आदरणीय श्री चन्द्रभान अग्रवाल पूर्वन्यायाधीश इलाहाबाद हाई कोर्ट का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने पुस्तक लिखने के लिये मुझे प्रेरित किया और उसे भारतीय विद्या भवन से प्रकाशित करने की व्यवस्था की । उनका आदेश था कि पुस्तक का आकार दो सौ पृष्ठों से अधिक न हो इसलिये विषय का विस्तार से प्रतिपादन संभव न था । पुस्तक की त्रुटियों के लिये मैं विद्वज्जनों के सुझावों का स्वागत करूँगा । पाठकों से मेरा निवेदन है कि पुस्तक में मुद्रण की कतिपय अशुद्धियों को शुद्धि-पत्र के अनुसार पढ़ने का कष्ट करें ।

—लेखक

विषय-सूची

पृष्ठ

१

भाषा और समाज

मानव-जीवन में भाषा का अत्यधिक महत्व है। मनुष्य के विकास के साथ साथ भाषा का महत्व भा बढ़ता जाता है। भाषा हमारे जीवन में इतनी अधिक घुल-मिल गई है कि हम इसका अपने जीवन से भिन्न एक पृथक सत्ता के रूप में बोध ही नहीं कर पाते। अवसर विशेष पर ही हमें इसकी सत्ता का अनुभव होता है। एक अबोध शिशु को अपनी आवश्यकताओं को प्रकट करने के लिये छटपटाते हुए, एक गूंगे को हाथ के संकेत से भाव प्रकट करते हुए जब हम देखते हैं तो हमें भाषा की उपयोगिता का ज्ञान होता है। मनुष्य की सभ्यता इस पर आधारित है। मनुष्य और पशु-पक्षी में मुख्य भेद भाषा का है। मनुष्य एक विचारशील प्राणी है और उसके विचार-विनिमय का माध्यम भाषा ही है। जाति, देश और काल के अनुसार भाषा का स्वरूप बदलता रहता है। जाति और भाषा में घनिष्ट संबंध अवश्य है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि किसी जाति विशेष का व्यक्ति सर्वत्र, विभिन्न परिस्थितियों में भी अपनी ही भाषा का प्रयोग करे। भिन्न वातावरण के प्रभाव से उसकी भाषा का रूप भी बदल जाता है। एक देश और जाति का व्यक्ति दूसरे देश और जाति के संपर्क और संसर्ग से वहाँ की भाषा में उतना ही कुशल हो जाता है जितना उस देश और

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भाषा के प्रारंभ में केवल धातुएं ही रही होंगी । आदि भाषा-भाषी लोग धातुएं बोल कर ही अपना कार्य चलाते होंगे । इस सिद्धांत के मानने वालों का यह कथन तो नितांत हास्यास्पद होगा कि आदि पुरुषों में धातु-निर्माण की प्रतिभा रही होगी जो कालान्तर में क्षीण होती गई । इस प्रकार का अनुमान भाषा की दैवी उत्पत्ति के सदृश ही कहा जायेगा । निस्संदेह आदि पुरुषों के भीतर इस प्रकार की धातुनिर्माण करने की शक्ति का अनुमान कर लेना इस बुद्धिवादी युग में अंधविश्वासमात्र कहा जायेगा । इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक युग में वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली के लिये हम धातुओं का अधिक आधार लेते हैं परन्तु भाषा की प्रारंभिक अवस्था में यही तर्कसंगत जान पड़ता है कि धातुएं भाषा में प्रयुक्त बहुत से शब्दों के विश्लेषण के द्वारा मालूम की गईं । दूसरे, संसार की सभी भाषाओं पर धातु-सिद्धांत घटित भी नहीं होता । अतएव भाषा की उत्पति के सम्बन्ध में उक्त मत मान्य नहीं ।

मनोभावाभिव्यंजक (Interjections) शब्दों के आधार पर भाषा की उत्पति को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है । ये शब्द मनुष्य के स्वभाव से प्रेरित होते हैं और सभी देशों में इनका प्रयोग पाया जाता है किन्तु उनका रूप भिन्न-भिन्न है । क्रोध, भय, आश्चर्य, प्रेम आदि की अवस्थाओं में ये अनायास मुख से निकल पड़ते हैं । ओह, आह, वाह, ओफ़, सीसी, छिह आदि ऐसे ही शब्द हैं । ये मनोभावाभिव्यंजक शब्द स्वाभाविक ध्वनियों के रूढ़रूप हैं किन्तु भाषा का विकास इसी आधार पर हुआ यह मान लेना युक्तिसंगत न होगा । भाषा का अस्तित्व इससे भिन्न है । किसी भी भाषा में ऐसे शब्द बहुत थोड़ी संख्या में ही मिलते हैं । ये प्रायः नगण्य हैं ।

मनुष्य का जीवन अनेक पशु-पक्षियों के बीच में व्यतीत होता है और उसने इनके बीच रहकर उनकी कुछ आवाज़ों (animal cries) का अनु-

करण कर लिया हो यह स्वाभाविक ही है। कुछ पशु-पक्षियों के नाम अनेक भाषाओं में उनकी आवाज़ों के आधार पर बने आज भी प्रचलित हैं। जैसे म्याऊं, भोभो, कुक्कू, कूहू, काक, तीतर, चटक (चिड़िया), कुक्कुट आदि। किन्तु भाषा में ऐसे शब्दों की संख्या भी अत्यल्प है। अमरीका के मूल निवासियों की कुछ भाषाओं में ऐसे शब्दों का प्रायः अभाव मिलता है। न केवल पशु-पक्षियों की आवाज़ों का अनुकरण ही मनुष्य ने किया वरन् उसने अपने समुदाय के अस्फुट स्वाभाविक उच्चारणों का भी अनुकरण किया होगा और धीरे धीरे वे अर्थवान शब्दों के लिये रूढ़ि हो गये होंगे।

भाषा में अनुकरणनात्मक शब्द भी मिलते हैं। निर्जीव वस्तुओं की परस्पर टकराहट से ये शब्द बनते है। जैसे खटखट, कलकल, रिमझिम, फड़फड़ आदि। इसी प्रकार सामूहिक रूप में कठिन परिश्रम करते समय श्वास की तेजी के कारण कुछ स्वाभाविक ध्वनियां अनायास मुख से निकल पड़ती हैं। जैसे हे-हो, हय्या-हो, छियो आदि। किन्तु भाषा में उक्त प्रकार के शब्द भी अधिक नहीं हैं। भारतीय आचार्यो और वैयाकरणों ने भी भाषा के संबंध मे उक्त प्रकार के शब्दों के उदाहरण दिये हैं। इनके ग्रंथों में इंगित-भाषा के उल्लेख मिलते हैं। अतएव भाषा की उत्पत्ति इन शब्दों के आधार पर सिद्ध नहीं होती। ये शब्द भाषा की मूल प्रकृति के निकट तो हैं परन्तु समाज के बीच जिस भाषा का प्रयोग हम करते हैं निस्संदेह वह भाषा इन सिद्धांतों के आधार पर निर्मित नहीं कही जा सकती। अनुकरण और मनोभावाभिव्यंजक शब्दों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने प्रतीकात्मक रूप में बने शब्दों का भी उल्लेख किया है। शैशव-अवस्था में बालक दोनों ओठों को मिलाकर पापा, बाबा, मामा आदि शब्दों का उच्चारण करता है जो बाद में निश्चित संबंधों के प्रतीक बन जाते हैं।

जेस्पर्सन ने भाषा के उद्‌गम के लिये निगमन पद्धति (Inductive

method) का निर्देश किया है । शिशु-भाषा के क्रमिक विकास, असभ्य जातियों की भाषाओं तथा किसी भाषा के परंपरागत इतिहास के आधार पर भाषा की मूल प्रकृति तक पहुंचा जा सकता है । भाषा के विकास में ध्वनि-अवयवों का योग होता है और प्रथम वर्ष का शिशु बोलने के लिये अपने ध्वनि-अवयवों को साधने का प्रयास करता है। यद्यपि अपनी इस अवस्था में वह केवल कुछ अस्फुट ध्वनियों का ही उच्चारण कर पाता है और इससे भाषा के विकास की प्रारम्भिक अवस्था का अनुमान किया जा सकता है। यहाँ वह ध्वनि और अर्थ में सामंजस्य स्थापित करता है ।

वैदिक संस्कृत से आधुनिक आर्य भाषाओं का जो विकास हुआ है उससे भी जेस्पर्सन के मत को पुष्ट किया जा सकता है। इस भाषा-विकास में क्लिष्ट ध्वनियों का लोप, व्याकरणिक क्लिष्टता का अभाव, संगीतात्मक स्वाराघात के स्थान पर बलात्मक स्वाराघात का प्रयोग आदि मुख्य विशेषताएं हैं। भाषा के विकास की इसी प्रवृत्ति को कुछ निश्चयात्मकता के साथ हम वैदिक भाषा की पूर्व भाषा पर भी लागू कर सकते हैं। विद्वानों ने प्राचीन आर्य भाषाओं के सूक्ष्म विवेचन से उन सबका मूल स्रोत एक आदिम आर्य भाषा से जोड़ने का प्रयास किया है। संस्कृत, अवेस्ती, ग्रीक, लेटिन आदि भाषाओं के प्राचीन लेखों के तुलनात्मक अध्ययन से आदिम आर्य भाषा की कल्पना का गई है। उनके मतानुसार यह भाषा संगठित आदिम आर्यों की जब वे अलग अलग शाखाओं में बटे नहीं थे, मूल भाषा रही होगी। अतः यदि हम अनुमानित आदिम आर्य का उदाहरण लें तो कह सकते हैं कि वह भाषा निस्संदेह वैदिक से अधिक जटिल ध्वनियों तथा व्याकरणिक रूपों से युक्त थी। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भाषा की आदिकालीन स्थिति में कठिनतम ध्वनियों के उच्चारण तथा व्याकरण के अस्त-व्यस्त रूप रहे होंगे।

पहले कहा गया है कि बोल-चाल या बच्चों की भाषाओं के अध्ययन से भी इसकी पुष्टि होती है। भाषा के प्रारंभिक वाक्य शब्दात्मक रहे होंगे। वाक्य-रचना का विकास बाद को हुआ तथा व्याकरण के सूक्ष्म भेदों की स्थिति भी बाद की है। बच्चे प्रत्येक शब्द को व्यक्तिवाचक रूप में ही सीखते हैं, ठीक उसी प्रकार प्रारंभिक पुरुष भी घटना विशेष अथवा कार्य विशेष के लिये अस्तव्यस्त ध्वनियों का ही प्रयोग करते रहे होंगे जो कि उक्त कार्य-घटना के लिये शब्द-रूप में रूढ़ि हो गई होंगी। असभ्य जाति की भाषा भी सीमित और अविकसित होती है जिससे प्रारंभिक अवस्था का संकेत मिल सकता है। इसी प्रकार भाषा के इतिहास का मूल स्रोत मालूम करने से भाषा के मूल रूप तक पहुंचा जा सकता है।

भाषा समाज-सापेक्ष होती है। उसका विकास भावों के आदान-प्रदान के लिये ही हुआ। भाषा के विकास में यह भावना इतनी प्रबल हो गई है कि भाषा के अध्ययन की एक शाखा ही सामाजिक भाषा-शास्त्र (Social linguistics) के नाम से अभिहित की गई है।

भाषा पर समाज की छाप होती है। कोई एक व्यक्ति भाषा को उत्पन्न नहीं करता। यह अवश्य है कि भाषा को एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से ही सीखता है। बच्चा अपनी मां से भाषा सीखना प्रारंभ करता है और उत्तरोत्तर उसके सीखने का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है। इस प्रकार भाषा अपने पूर्वजों से सीखी जाती है। वह एक परंपरा-गत अर्जित वस्तु है। कोई व्यक्ति पैतृक संपत्ति के रूप में उसका उत्तराधिकारी नहीं होता वरन् उसे प्राप्त करने के लिए उसको प्रयत्नशील होना पड़ता है।

भाषा का भौतिक रूप सभी अवस्थाओं और कालों में अभीष्ट-सिद्धि के लिये समर्थ नहीं होता। संकेतों के द्वारा भी भाव व्यक्त किये जाते

हैं। प्रारंभिक अवस्था में जब भाषा का पूर्ण विकास नहीं हुआ था तो संकेत भाव-प्रकाशन का एक प्रमुख साधन रहा होगा। अमरीका की मूल जातियों में अब भी इसका व्यापक व्यवहार होता है। आज भी संकेतों का महत्व कम नहीं है। हम जिससे कोई बात कहना चाहते हैं वह यदि हमारी भाषा को पूर्णतः समझने में असमर्थ है तब हम भाषा के स्वल्प प्रयोग के साथ हाथ अथवा अन्य अवयवों से कुछ संकेत करते हैं अथवा यदि कोई व्यक्ति बहुत दूरी पर है जहां कि हम अपनी भाषा का पूरा आदान-प्रदान नहीं कर सकते वहाँ भी हम उसी प्रकार संकेतों से काम लेते हैं। भावों को तीव्र बनाने के लिये हम इंगितों का सहारा लेते हैं। साधारण बातचीत में भी मुख-हाथ की विविध मुद्राओं का सहारा लिया जाता है जिसका श्रोता पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार ये संकेत भाषा के सहायक रूप कहे जा सकते हैं। किन्तु अन्धकार में इनका उपयोग नहीं हो सकता। साथ ही ये भाषा का स्थान कभी नहीं ले सकते। सूक्ष्म भावों का प्रकाशन जैसा भाषा के द्वारा संभव है वैसा संकेतों के द्वारा कदापि नहीं।

लिपि भी भाव-प्रकाशन तथा भावों को सुरक्षित रखने का एक सर्वव्यापक वैज्ञानिक उपाय है। भाषा और लिपि में घनिष्ट संबंध है। लिपि के प्रयोग में वाह्य साधनों की आवश्यकता होती है किन्तु भाषा में ऐसे किसी स्थूल पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती। फिर वक्ता की भाषा का जो प्रभाव श्रोता पर संभव है वह लिपि में कहाँ! इसीलिये बुद्धिमान लोग श्रोता पर स्थायी प्रभाव डालने के लिये मौखिक भाषा का सहारा लेना ही श्रेयस्कर समझते हैं। लिपि का विकास भाषा-स्थिति के बहुत बाद का है। सामाजिक सभ्यता के पूर्ण विकसित होने पर लिपि की आवश्यकता का अनुभव किया गया होगा। अतएव यह स्पष्ट है कि भाषा विचारों के आदान-प्रदान तथा प्रकाशन का सर्वोत्तम साधन है। इतने सुगम और उत्कृष्ट रूप में किसी और उपाय के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति संभव नहीं। अतः यह कहना

समीचीन होगा कि भाषा मनुष्य के बौद्धिक आविष्कारों का परिणाम है।

भाषा का विकास

जैसा कि पहले कहा जा चुका है भाषा का प्रारंभिक रूप बहुत ही परिमित रहा होगा किन्तु भाषा में स्वभावतः ऐसे गुण होते हैं कि वह विस्तृत होती जाती है। परिवर्तनशीलता तथा ग्रहणशीलता प्रचलित भाषा के प्रधान गुण होते हैं। भाषा तभी तक जीवित रह सकती है जब तक उसमें यह गुण वर्तमान हैं अन्यथा वह मृतप्राय हो जाती है। भाषा के विकास के लिये समाज की अपेक्षा है। यदि भाषा का समाज नष्ट हो जाय अथवा वह समाज कोई दूसरी भाषा का प्रयोग करने लगे तो वह भाषा अव्यवहृत होते ही समाप्त हो जायेगी। इसीलिये कहा गया है कि यदि किसी भाषा का व्यवहार करने वाले कोई दो व्यक्ति भी जीवित रहेंगे तो भाषा जीवित रहेगी। भाषा पर वाह्य प्रभाव भी पड़ते हैं जिससे उसका स्वरूप बदल जाता है। साथ ही आन्तरिक कारणों से भी भाषा निरंतर परिवर्तित होती रहती है किन्तु यह परिवर्तन इतना धीमा और परोक्ष रूप में होता है कि साधारणतया उसका पता नहीं चल पाता। औद्योगिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि कारणों से जातियों का पारस्परिक संपर्क एक दूसरे की भाषा को प्रभावित करता है। अपनी प्राचीनता और सांस्कृतिक कारणों से भी कोई भाषा सर्वप्रचलित हो जाती है। संस्कृत भाषा ने भारत के पड़ोसी देशों-तिब्बत, बर्मा, लंका आदि तथा भारतीय सभी भाषाओं को यथेष्ट रूप में प्रभावित किया है। द्राविड़ भाषाओं पर संस्कृत का काफी प्रभाव मिलता है। यूरोप की प्राचीन भाषायें-ग्रीक और लेटिन की प्राचीन काल में तथा फ़्रैंच एवं अंग्रेज़ी की आधुनिक काल में ऐसी ही स्थिति है। चीनी भाषा का प्रभाव इसी प्रकार जापानी, अनामी, कोरियाई भाषाओं पर पड़ा है। अरबी भाषा ने मध्यएशिया, फ़ारस, तुर्किस्तान आदि की

भाषाओं को काफी प्रभावित किया है। यह प्रभाव अधिकतर शब्दों के आदान-प्रदान के रूप में होता है। शब्दों के साथ ध्वनियों का प्रभाव भी पड़ना स्वाभाविक है। कभी कभी एक भाषा के व्याकरणिक रूपों का प्रभाव भी दूसरी भाषा पर पड़ जाता है। लेकिन शब्दों की अपेक्षा व्याकरणिक रूपों तथा ध्वनियों का प्रभाव अत्यल्प होता है। भाषाओं के इस प्रभाव को उनके तुलनात्मक अध्ययन और विश्लेषण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

भाषा के भेद

भाषा का सामान्य अर्थ है—जो बोला जाय। यह संस्कृत धातु √भाष्—बोलना पर आधारित है। इसी बोली के देश, काल और जाति के अनुसार भिन्न भिन्न स्वरूप देखने को मिलते हैं जिनको पारिभाषिक शब्दावली में हम बोली, विभाषा, भाषा, राष्ट्रभाषा, विश्वभाषा आदि नाम देते है। सर्वसाधारण में प्रचलित भाषा और साहित्यिक भाषा में अन्तर होता हैं। किन्तु भाषा का स्वाभाविक रूप सर्वसाधारण की भाषा में ही सुरक्षित मिलता है। साहित्यिक रूप में भाषा बहुत कुछ आडंबरपूर्ण हो जाती है फिर भी इसका आधार बोलचाल की भाषा ही रहती है किन्तु एक तीसरा रूप भी देखने में आता है जिसे हम भाषा का कृत्रिम रूप कह सकते हैं। वह भाषा बोलचाल के रूप पर आधारित नहीं होती। भाषा का यह रूप कई भाषाओं की आंशिक विशेषताओं को लेकर बनाया जाता है। यह भाषा एक सीमित वर्ग की ही होती है। कभी कभी ऐसी अस्वाभाविक भाषा को व्यापक बनाने का प्रयत्न भी किया जाता है। एक सार्वदेशिक तथा सार्वजनिक भाषा की आवश्यकता से प्रेरित होकर डा० लुइस् ज़मेन्हॉफ़ नामक विद्वान ने कई प्राचीन और अर्वाचीन यूरोपीय भाषाओं के विविध रूपों का आत्मसात करके बिल्कुल एक नई भाषा एस्पिरैन्तो (Esperanto) को जन्म दिया। उनके मतानुसार इस भाषा का शब्द-भंडार तथा

व्याकरण बहुत सरल एवं शीघ्रग्राह्य है और यह थोड़े प्रयास से सब लोगों के लिये व्यावहारिक बन सकती है। इस प्रकार के कुछ और भी प्रयास यूरोप में हुये। इसी पर आधारित इसका एक परिष्कृत रूप इडो (Ido) नाम से विकसित किया गया किन्तु ऐसी भाषाओं का कोई बोलचाल का आधार न होने के कारण सम्यक् विकास नहीं हो पाता। अतः न ये व्यापक हो सकीं और न स्थायित्व ही प्राप्त कर सकीं।

समाज में विभिन्न वर्गों के मनुष्य होते हैं — ग्रामीण, नागरिक, शिक्षित, अशिक्षित तथा अनेक व्यवसायों से संबंधित। किसान, राज (मिस्त्री), मल्लाह, जुलाहा, कुंभार, बढ़ई, लोहार, नाई, तेली, सोनार, गड़ेरिया, चमार, पटहार (पटवा) आदि विभिन्न व्यवसायों के मनुष्य-समुदाय होते हैं। इनकी अपनी अपनी विशिष्ट शब्दावली होती है और इसे उस समुदाय के लोग ही भली प्रकार समझ पाते हैं। अधिकतर नगर में रहने वाले डाक्टर, इन्जीनियर, वैज्ञानिक, साहित्यकार, वकील, व्यापारी, सैनिक, कलाकार आदि की अपनी भाषा में भी अन्तर होता है। यह अंतर विशेषतया शब्द अथवा भाव संबंधी ही होता है। नगर के औद्योगिक वर्ग की भी अपनी एक विशेष शब्दावली होती है। उदाहरणार्थ हिन्दी-क्षेत्र के किसान की अपनी शब्दावली के कुछ विशेष शब्द ये हैं—बीज, जुताई, बुवाई, सिंचाई, गोड़ाई, निराई, कटाई, हल, माची, पटेला, नहला, खलिहान, ओठि, बखार, भूड़र, बलगर, गांजर, परती, फाल, हरैनी, धुरा आदि। प्रायः ऐसा भी होता है कि एक ही शब्द विभिन्न वर्गों की पारिभाषिक शब्दावली में अपना भिन्न अर्थ प्रकट करता है। जैसे हिन्दी गोली शब्द वैद्य या डाक्टर के लिये एक अर्थ रखता है, सैनिक के लिये दूसरा, खिलाड़ी के लिये तीसरा आदि। 'कांटा' शब्द किसान या चरवाहा के लिये एक अर्थ देगा, व्यापारी के लिये दूसरा, मछली मारने वाले के लिये तीसरा, इसके साथ ही साथ

कुएं में कोई चीज गिर जाने पर जिस यंत्र से उसे निकाला जाता है उसे भी कांटा कहते हैं। इसी प्रकार टांका, डोरी, जुआं आदि सैकड़ों शब्द हैं। ऐसे शब्दों से भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति का निरन्तर विकास होता रहता है।

भाषा जब किसी सीमित क्षेत्र में केवल घरेलू रूप में प्रचलित रहती है तो वह 'बोली' कहलाती है। उसमें कोई विशिष्ट साहित्य नहीं होता। वह बोलने वालों के केवल साधारण बातचीत तक ही सीमित रहती है। इस बोली का क्षेत्र जब कुछ विस्तृत हो जाता है और उसमें साहित्य-सृजन होने लगता है तो वह 'विभाषा' अथवा 'उपभाषा' के नाम से अभिहित होती है। शिक्षा, साहित्य और राजकीय कार्यों में जब किसी बोली का प्रयोग होने लगता है तब हम उसे प्रादेशिक भाषा, आदर्श भाषा अथवा केवल 'भाषा' की संज्ञा दे सकते हैं। इसका क्षेत्र कुछ व्यापक अधिकांशतः विभाषाओं से विस्तृत होता है। बोलचाल या विचार-विनिमय के रूप में जब यह भाषा किसी राष्ट्र के समस्त भू-भाग पर छा जाती है तब राष्ट्रभाषा और जब यह विश्व के व्यापक क्षेत्रों को संबद्ध करती है तब हम उसे सामान्यतः विश्वभाषा कह देते हैं। जैसे हिन्दी की खड़ी बोली किसी समय मेरठ, बिजनौर की केवल बोली की स्थिति में थी, जैसा इसके प्रारंभिक काल में दिये गये नाम से ही स्पष्ट है। यही खड़ी बोली बाद में भारत के उत्तरी प्रदेशों में व्यापक हुई और धीरे धीरे सारे देश को एक सूत्र में पिरोने में सफल हुई। अतः इसे राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन किया गया। इसी प्रकार अंग्रेज़ी प्राचीन जर्मन भाषा से उद्भूत और बाद में इंग्लैंड् में जाकर बस जाने वाले आंग्ल जाति की बोली थी। कालान्तर में वह विभाषा, भाषा, राष्ट्रभाषा की स्थिति में पहुंचकर आज विश्वभाषा बन गई है। औद्योगिक एवं राजनीतिक दृष्टि से विश्व का बड़ा भूभाग इससे बंधा हुआ है।

भाषा केवल सामाजिक संपर्क एवं एकता का ही साधन नहीं है वरन् हमारी सभी जिज्ञासाओं का समाधान भी करती रहती है जो कि हमारे भीतर चतुर्दिक वातावरण के संपर्क से स्वभावतः उठा करती हैं। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाओं की मूल भाषा ही है।

भाषा के व्याकरणिक गठन तथा उसके शब्द-समूह के विकास में वैज्ञानिक प्रक्रिया ही मूल में रहती है। नये नये विद्वानों के आविष्कार से भाषा भी संवृद्ध होती जाती है। नई नई शब्दावली का विकास होता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भाषा के स्वरूप को समझने में बड़ी सरलता होती है तथा भाषा का एक नया रूप निखार में आता है। मानव-समाज की प्रगति में भाषा और विज्ञान समान रूप से योग देते हैं।

भाषा और सामाजिक शास्त्र

समाज की सम्यक् जानकारी के लिये हमने ज्ञान-विज्ञान से संबंधित विविध प्रकार के अध्ययन की धाराओं को कई विषयों में विभाजित कर लिया है। इतिहास भूत काल की घटनाओं का कालगत चित्रण करता है, नृ-विज्ञान समाज और सभ्यता के पारस्परिक घातों-प्रतिघातों को स्पष्ट करता है तथा अर्थशास्त्र एवं राजनीति-शास्त्र समाज की विशेष प्रवृति की ओर ही प्रमुख ध्यान देते हैं। फिर भी इन शास्त्रों का पारस्परिक संबंध अत्यन्त घनिष्ट है। भाषा जिसकी स्थिति समाज के बीच है, जो समाज के लिये जीवित है और जो समाज की सभ्यता के साथ साथ अपना विकास करती चली आ रही है, निस्संदेह उसका विशेष अध्ययन भी उपरोक्त सामाजिक शास्त्रों के अन्तर्गत ही होना चाहिये। इतना ही नहीं युग के भाषा-रूपों को पाकर हम समाज के रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा तथा तत्युगीन विचारों का बहुत कुछ ठीक अनुमान लगा लेते हैं।

'असुर' शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य में 'तेजस्वी आत्माओं' के

लिये हुआ है, फिर बाद के साहित्य में यही शब्द 'कुत्सित भावना' वाले व्यक्तियों के लिये होने लगा। निश्चय ही उस युग की विचारधाराओं में परिवर्तन हुआ होगा। प्रागैतिहासिक युग की विशेष जानकारी साहित्य में पाये जाने वाले ऐसे शब्दों के विश्लेषण से ही संभव होती है। आर्य लोग बाहर से आये, संस्कृत यूरोपियन भाषाओं की जननी है, आर्य लोग शव को जलाते और गाड़ते थे, समाज में विधवायें नहीं थीं आदि सही अथवा गलत परिणामों का अनुमान हम भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन से ही कर सके हैं। ठीक इसी प्रकार समाज की उथल-पुथल भाषा में विशृंखलता लाती है, भाषा-रूपों में कभी विविधता और कभी एकता लाती है जिससे भाषा संबन्धी सामान्य नियमों का निर्धारण करने में भाषाविज्ञानी को पर्याप्त सहायता मिलती है।

भाषा और शरीर तथा भौतिक विज्ञान

मनः प्रेरित वायु कंठ एवं मुख से निकलते समय ध्वनि का रूप धारण करती है। ध्वनि में अनेकरूपता लाने वाले ये मुख और कंठ के विभिन्न अवयव ही हैं। शरीर-विज्ञान इन अवयवों की बनावट का विशेष अध्ययन प्रस्तुत करता है, जब कि भाषा-विज्ञान की एक शाखा अवयव-उच्चरित ध्वनियों की विविधता पर दृष्टि रखती है। इसलिये विज्ञान की दोनों धाराओं का यथेष्ट ज्ञान भाषा के विद्यार्थी के लिये परमावश्यक है। नेत्र, कान आदि की सहायता से ही भाषा का बोध होता है। कैसे नेत्र इसे मस्तिष्क तक पहुंचाते हैं, यह कोई शरीर-विज्ञानी ही बता सकता है। बच्चों की भाषा का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी की जिज्ञासा होती है कि बच्चे प्रारंभ में र, ट आदि ध्वनियां क्यों नहीं बोल पाते। निस्संदेह शरीर-विज्ञान इसका उत्तर दे सकता है। संभवतः बच्चों के मुख-तंतु इतने कोमल होते हैं कि र ट आदि कठोर ध्वनियों का

उच्चारण वे नहीं कर पाते और जब वे कठोर वस्तु खाने के उपयुक्त हो जाते हैं तो उनकी जिह्वा में भी उच्चारण प्रेरित कठोरता आ जाती है।

उच्चरित ध्वनियां श्रोता के कर्णेन्द्रिय द्वारा गृहीत होने के पूर्व वायु की लहरों द्वारा प्रवाहित होती हैं। इन लहरों का वैज्ञानिक अध्ययन भौतिक विज्ञान का विषय है। ये ध्वनियां हमारे कानों तक कैसे और किस रूप में पहुंचती हैं तथा उसकी गति आदि का ज्ञान भाषा-विज्ञानी भौतिक-विज्ञान की सहायता से ही कर पाता है। ध्वनियों का इस प्रकार का एक अध्ययन भौतिक ध्वनि-विज्ञान (Acoustic phonetics) भौतिक शास्त्र पर आधारित है।

भाषा और साहित्य

साहित्य हमारी रागात्मक प्रवृत्तियों का प्रकाशन करने के लिये भाषा का आधार ग्रहण करता है। युग-युग की संचित मनोवृत्तियां साहित्य में सुरक्षित हैं जिनकी अभिव्यक्ति उस युग की भाषा के माध्यम से हुई है। इस प्रकार यदि हम भाषा का ऐतिहासिक विकास देखना चाहें तो हमें प्रत्येक युग की इस साहित्य-सम्पत्ति को ही आधार बनाना पड़ेगा। बिना विशाल साहित्यिक सामग्री के भाषा का अध्यापन प्रौढ़ नहीं हो पाता। यदि साहित्यिक धारा का यह क्रम टूट जाय या उस युग का साहित्य काल के गर्त में विलीन हो जाये तो उस भाषा के इतिहास की प्रामाणिकता के लिये हमे अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। संस्कृत का विशाल एवं दीर्घ कालव्यापी वाङ्मय ही आधुनिक युग में भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की नींव डाल सका है। लेटिन, ग्रीक आदि भाषाओं के साहित्य का इतिहास टूटता रहा है इसलिए केवल उन भाषाओं के आधार पर ही जिनका साहित्य कुछ अधिक विस्तृत है, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की नींव पड़ सकी। फिर भी साहित्य अपने युग की भाषा का एक छोटा सा अंश ही व्यवहार में ला पाता है।

भाषा और व्याकरण

व्याकरण भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को व्यावहारिक रूप देता है। जैसे ध्वनियां अनन्त हैं, एक ही ध्वनि को हम कई रूपों में बोल जाते हैं इसलिये वैयाकरण का ध्वनि-विश्लेषण केवल उस सीमा तक चलता है, जहां तक वह विश्लेषण उस भाषा के लिये महत्वपूर्ण है। विश्लेषण की प्रवृत्ति एक व्यावहारिकता को लिये हुए है, दूसरी की प्रवृत्ति विशुद्ध विज्ञान की ओर है। भाषा-विज्ञान तो उन सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण करता है जो कि संसार की प्रत्येक भाषा पर लागू किये जा सकते हैं, परन्तु व्याकरणिक अध्ययन प्रत्येक भाषा के लिये अपना अलग अलग होता है। इस प्रकार यदि विश्लेषण की पहुंच वैज्ञानिक है तो समाज के किसी व्यक्ति को जो उस भाषा को नहीं जानता है, ग्रहण करने में सरलता होती है। बच्चों को भी उस भाषा के आगामी अध्ययन में सहायता मिल जाती है अन्यथा रट कर उन रूपों को ग्रहण करना पड़ता है।

भाषा और मनोविज्ञान

मनुष्य का प्रत्येक कार्य किसी न किसी विशेष परिस्थिति का परिणाम है। वे परिस्थितियां चाहे वाह्य वातावरण से सम्बन्धित हों और चाहे मानव-भावनाओं को उत्तेजित करने वाली हों। कभी कभी ऐसा भी होता है कि परिस्थिति का फल कार्य न होकर परिस्थिति संबंधी उद्गार ही होते है। यही उद्गार भाषा के मूल में हैं। हम एक तीसरी स्थिति का भी अनुमान लगा लेते हैं कि उक्त परिस्थिति के सामने आने पर यदि भाषा का रूप निखार में आ चुका है तो हम उस सम्बन्ध को केवल सोच कर रह जाते हैं। सोचने-विचारने की इन्हीं विविधताओं का विश्लेषण करना मनोविज्ञान का वर्ण्यविषय है। इन्हीं विचारों की अधिकता के परिणामस्वरूप ही मानव के कार्यकलापों में अभिवृद्धि हुई है। मनुष्येतर प्राणियों में विचार-शक्ति का अभाव है। फलतः

उनकी क्रीड़ाओं का विकास केवल परिस्थिति और तज्जन्य क्रिया तक ही सीमित है।

परिस्थितियाँ अभाव और वातावरण की देन हैं। अतएव उनमें अनेकरूपता है; मानव-मस्तिष्क पर उनकी प्रतिक्रिया भी तद्नुकूल विविधता लिए हुए है। निरन्तर उन्हीं परिस्थितियों में पड़े रहने पर मनुष्य के स्वभाव एवं संस्कार का भी उसी प्रकार से विकास होता है और वह वैसा ही सोचने लगता है जैसी उसकी परिस्थितियाँ हैं। अछूतों के प्रति हमारी धारणा की अभिव्यक्ति जो हरिजन (भक्त) के शब्द-रूप में हुई है वह निस्सन्देह आधुनिक युग की साम्य भावना के कारणस्वरूप है। भाषा के दैनिक व्यवहार में उच्चारण तथा गठन संबंधी जो आदत मनुष्य में दिखाई पड़ती है निश्चय ही वह एक ही प्रकार से सोचते रहने का परिणाम कहा जा सकता है। इस प्रकार भाषा या भाषा-रूपों के परिवर्तन के मूल कारणों का ज्ञान हम मनोविज्ञान की सहायता से प्राप्त कर सकते हैं।

भाषा और भूगोल-शास्त्र

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'भाषा अन्यान्य शास्त्रों के अध्ययन का अध्ययन है'। इस लक्ष्य का आधार लेकर हम यह भी कह सकते हैं कि भाषा के वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन से अनेक शास्त्रों की विवादास्पद गुत्थियां सुलझती हैं। प्रागैतिहासिक युग में आर्य-जाति द्वारा परिचित वनस्पतियां जीव-जन्तु, तथा अन्य प्राकृतिक अवस्थाओं का ज्ञान हमें तुलनात्मक भाषा-विज्ञान द्वारा ही संभव हुआ है और उसके आधार पर ही हम ऐतिहासिक अध्ययन की पुष्टि कर सके हैं।

प्रकृति के शक्तिशाली उपकरण—नदी, पर्वत, जंगल आदि समाज के संगठन को मोड़ने में सहायक होते हैं। फलस्वरूप भाषा-परिवर्तन के अनुमानों की पुष्टि होती है। भाषा की स्थानीय विभिन्नताओं के मूल में

विशेष रूप से इन्हीं भौगोलिक उपकरणों का ही हाथ है। मैडागास्कर, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी भारत की भाषाओं की लगभग सामान्य गठन के आधार पर हम लैमुरी प्रायद्वीप की कल्पना कर लेते हैं और अपने इस भौगोलिक अध्ययन को पुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। ठीक इसके विपरीत ग्रियर्सन के भाषा सम्बन्धी इस निष्कर्ष की पुष्टि, कि भारत में तिब्बत-चीनी परिवार की भाषाओं की लगभग डेढ़ सौ बोलियां हैं, हम इस भौगोलिक लक्ष्य के आधार पर कर सकते हैं कि उपत्यकाओं में रहने के कारण वहां की जातियों का सामाजिक गठबन्धन नहीं रह पाता होगा। फलस्वरूप भाषा की विकासशील पद्धति के अनुसार उनमें अनेकरूपताएँ आ गई होंगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि दोनों शास्त्रों का ज्ञान पारस्परिक रूप में सहयोगी है।

आधुनिक युग में भाषा-विज्ञान की एक शाखा भौगोलिक भाषा-विज्ञान (linguistic geography) की है जिसमें हम भाषा की स्थानीय विशेषताओं का अध्ययन करते हें और मान-चित्रों द्वारा उसे स्पष्ट करते हैं। ध्वनि-नियम अपवाद नहीं रखते तथा प्रत्येक शब्द का अपना इतिहास होता है आदि भाषा-वैज्ञानिक-निष्कर्षों की तथ्यता की जांच हमें भाषा की स्थानीय विशेषता के संग्रह करने के पश्चात् ही होती है। भाषा की शब्द-ध्वनि या व्याकरण सम्बन्धी प्रवृत्तियों की द्योतक रेखाओं के द्वारा हम भौगोलिक क्षेत्रों को विभाजित कर लेते हैं। इन रेखाओं को पारिभाषिक रूप में आयसोग्लासेज़ (Isoglosses) कहा गया है जहां से इस प्रकार की कई एक रेखाएँ एक साथ ही गुजरती हैं। निस्संदेह भाषा की गठन की दृष्टि से वह क्षेत्र अन्य क्षेत्रों से अपनी कुछ विभिन्नता रखता है और उसे हम आवश्यकतानुसार अन्य बोली या भाषा का क्षेत्र निर्धारित कर लेते हैं। हिन्दी-बोलियों को निश्चित करने के लिए इस विभाजन-रीति का सहारा लिया गया है।

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि भाषा समाज की देन है और समाज की सभ्यता भाषा की देन।

२

भाषा के तत्त्व और उनका विकास

मनुष्य ने वाणी के द्वारा भाषा का प्रयोग इतना सुगम बना लिया है कि इसमें उसको तनिक भी कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। भाषा के प्रयोग में मानसिक और भौतिक आधार दोनों आवश्यक होते हैं। भाषा का विचारों से घनिष्ट संबंध है। विचार मस्तिष्क में उठते हैं और फिर वे ही भाषा के रूप में प्रकट हो जाते हैं। इन विचारों की आधार-शिला जगत का वाह्य वातावरण ही है। इसी को हम भाषा का मानसिक आधार कह सकते हैं। मन से प्ररित वायु जब वाणी के विभिन्न अवयवों-जीभ, तालु, नासिका आदि से निस्सृत होकर जिस मूर्तिमान रूप में प्रकट होती है उसे हम भाषा का शारीरिक अथवा भौतिक आधार कह सकते हैं।

वक्ता जब किसी भाव को प्रकट करना चाहता है तो उसके मन में उस भाव की जैसी प्रतिमा होती है श्रोता के मन में उस शब्द को सुनते ही तत्काल वैसी ही प्रतिमा प्रकट हो जाती है। श्रोता के मन में जब

तक वक्ता की जैसी प्रतिमा नहीं उठेगी तब तक वह वक्ता को समझ सकने में असमर्थ रहेगा। पागलों के द्वारा उच्चरित ध्वनि-समूह भाषा की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि उनके मष्तिष्क में भावों या विचारों की शृंखलाबद्ध निश्चित प्रतिमाएँ नहीं उठतीं। उसका यह प्रलाप भाषा के मानसिक आधार की ही पुष्टि करता हे। भाषा का जो दूसरा शारीरिक आधार है, उसके मूल में ध्वनि ही मुख्य तत्त्व है, परन्तु वे ध्वनियाँ नहीं, जो हमें मनुष्येतर वाह्य प्रकृति में सुनाई पड़ती हैं। उसका मनुष्य-मुख से निःसृत होना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में हम उन ध्वनियों का बहिष्कार कर देते हैं जो कि अपने संगठित रूप में होते हुए भी कोई निश्चित प्रतिमाएँ मस्तिष्क में नहीं उठातीं। अतः इन सापेक्षिक आधारों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि भाषा समाजगत पहले है, व्यक्तिगत बाद में। भाषा के वास्तविक रूप में वक्ता और श्रोता दो भिन्न व्यक्ति होने आवश्यक हैं।

भाषा की इन विशेषताओं को हम भाषा की परिभाषा में इस प्रकार कह सकते हैं—'भाषा वाणी के द्वारा व्यक्त स्वच्छंद प्रतीकों की वह रीतिबद्ध पद्धति है जिससे मनुष्य-समुदाय अपने भावों का परस्पर आदान-प्रदान करते हुये एक दूसरे को सहयोग देता है।' इस परिभाषा से स्पष्ट है कि संकेत तथा मूक अभिनय आदि के द्वारा भाव प्रकट करने का साधन भाषा नहीं है। भावों को प्रकट करने की लिपि-पद्धति भाषा पर आधारित है परन्तु वह भाषा नहीं है। ग्रामोफ़ोन के रेकर्ड, तार के सकेतों से प्राप्त सभी ध्वनि-रूप मौखिक भाषा पर आधारित कहे जायेंगे किन्तु भाषा के समक्ष उनकी सत्ता गौण है। उपरोक्त परि-भाषा के अनुसार भाषा में तीन विशेषताओं का होना आवश्यक है—

१—प्रत्येक भाषा की निजी ध्वनि एवं व्याकरणिक व्यवस्था

ोती है। जैसे चल् ध्वनि-समष्टि हिन्दी के लिये अर्थपूर्ण है जब कि अंग्रेज़ी में इन ध्वनियों की व्यवस्था कोई भी अर्थ नहीं रखती। इसी प्रकार व्याकरणिक व्यवस्था के अनुसार हिन्दी में 'मेज़ पर पुस्तक' अर्थात् पहले आधार, धर्म, फिर आधेय होगा परन्तु अंग्रेज़ी की व्यवस्था इसके विपरीत है, जैसे 'बुक् आन् द टेबुल' अर्थात् पहले आधेय, धर्म, फिर आधार का क्रम होगा।

२—नाना पदार्थों, भावों, विचारों आदि के नामकरण प्रतीकात्मक हैं जो कि समाज द्वारा ही दिए हुये हैं। जैसे माली, विद्यार्थी तथा नाईसमाज में 'कलम' शब्द अलग अलग क्रियाओं के प्रतीक रूप में व्यवहृत होता है।

३—भाषा समाज के विचार-विनिमय और पारस्परिक सहयोग का माध्यम है। मनुष्य को सामाजिक भावना का विकास करने में भाषा से अत्यधिक सहायता मिली। वह एक दूसरे के भाव को समझने में सफल हुआ।

भाषा के इसी रूप का विवेचन, विश्लेषण तथा तुलनात्मक अध्ययन प्रायः सभी उन्नत और सभ्य देशों में प्राचीन काल से होता आया है। भारतवर्ष में संस्कृत भाषा के सभी अंगों की गहन विवेचना मिलती है। यह विवेचन भाषा के सामान्य सिद्धान्तों पर भी पूर्णरूपेण घटित होता है। आधुनिक काल में भाषा सम्बन्धी सिद्धान्तों को जो वैज्ञानिक रूप प्रदान किया गया है वह 'भाषा-विज्ञान' के नाम से अभिहित है। कोई एक भाषा का अध्ययन इस विज्ञान का विषय नहीं होता वरन् भाषा-मात्र के सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन इसका लक्ष्य होता है। भाषा-का मानव-संस्कृति से क्या सम्बन्ध है, भाषाओं का प्रारम्भिक विकास कैसे हुआ, भाषाओं का वर्गीकरण किस तरह सम्भव होता है, ध्वनियों

में परिवर्तन क्यों और कैसे होते हैं आदि ऐसे विषय हैं जिन पर भाषा-विज्ञान प्रकाश डालता है। भाषा-विज्ञान के लिए अंग्रेजी में लिंग्विस्टिक्स् (Linguistics) शब्द प्रचलित है। इसके लिए दूसरा प्रचलित पारिभाषिक शब्द फ़िलॉलाजी (Philology) अथवा कम्परेटिब फ़िलॉलाजी (Comparative philology) है किन्तु उक्त पारिभाषिक शब्दों में अन्तर है। फ़िलॉलाजी के अन्तर्गत पुराने हस्त-लिखित ग्रन्थों, शिलालेखों आदि की भाषा का अध्ययन मुख्य लक्ष्य होता है। एक ही ग्रंथ की अनेक हस्तलिखित प्रतियों के तुलनात्मक अध्ययन से लिखित भाषा के रूप का स्पष्टीकरण किया जाता है। तुलनात्मक अथवा ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का फ़िलॉलाजी से घनिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि भाषा-विज्ञानी (linguist) लिखित भाषा के स्वरूप का विश्लेषण स्वयं न करके फ़िलॉलाजिस्ट (philologist) के निष्कर्षों को उसी रूप में स्वीकार कर के उनका उपयोग कर लेता है।

भाषा-विज्ञान जैसा कि पहले कहा जा चुका है कथ्य और लिखित दोनों प्रकार की भाषाओं का अध्ययन प्रस्तुत करता है। यह अध्ययन वर्णनात्मक (descriptive), तुलनात्मक (comparative) एवं ऐतिहासिक (historical) रूपों में प्रस्तुत किया गया है। वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान भाषाओं की संपूर्ण विशेषताओं की सम्यक् विवेचना करता है और तुलनात्मक अथवा ऐतिहासिक भाषाविज्ञान भाषाओं में पारस्परिक संबंध तथा परिवर्तन आदि का इतिहास प्रस्तुत करता है। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत प्रत्येक जीवित भाषा अथवा बोली की ध्वनियों के उच्चारण, सुर-भेद, व्याकरणात्मक प्रयोग आदि विषयों की व्याख्या का जाती है। उनके ऐतिहासिक विकास की ओर कोई विशेष दृष्टि नहीं रहती। इस प्रकार के अध्ययन से संबंधित भाषाविज्ञान की कतिपय नई शाखाओं का विकास अभी हाल में अमरीका

के भाषाविज्ञानियों के द्वारा किया गया है। भाषाओं में सुर का महत्व सुरविज्ञान (tonetics), लिपिविकास की दृष्टि से भाषा के ध्वनि-तत्त्वों का वैज्ञानिक विश्लेषण ध्वनिग्रामिक विज्ञान (phonemics), साहित्यिक भाषाओं के सदृश ही जीवित बोलियों का विशेष अध्ययन बोलीविज्ञान (dialectology) के रूप में प्रस्तुत किया गया है। भाषा के दार्शनिक रूप का विवेचन एक नई शाखा मेटालिंग्विस्टिक्स् (metalinguistics) के रूप में किया गया है। इस शाखा के अन्तर्गत भाषा तथा विचार का संबंध, भाषा की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि, भाषा की नित्यता तथा अनित्यता आदि विषयों का अध्ययन किया जाता है।

सम्यक् अध्ययन के लिये भाषा-विज्ञान को कई अंगों में विभाजित कर लिया गया है। इसका एक अंग ध्वनि-विज्ञान (phonetics) है जिसमें मनुष्य के ध्वनि-यंत्र से निकली हुई ध्वनियों का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमें स्वर, व्यंजन, स्वराघात आदि की व्याख्या, उनके वैज्ञानिक वर्गीकरण आदि का अध्ययन किया जाता है। इसी अंग की एक शाखा प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान (practical phonetics) है जिसमें कृत्रिम ध्वनि-यंत्रों के द्वारा ध्वनियों के उच्चारण-स्थान तथा उच्चरित ध्वनियों के स्वरूप का निश्चय किया जाता है। इस प्रकार के ध्वनियंत्रों में कायमोग्राफ् (kymograph), कृत्रिम तालु (palatogram), स्पेक्ट्रोग्राफ् (spectrograph) आदि का विशेष महत्व है। ध्वनि-विज्ञान को वस्तुतः तीन मुख्य शाखाओं में विभाजित किया गया है। एक उच्चारणिक ध्वनि-विज्ञान (articulatory phonetics) है जिसमें ध्वनियों के उच्चारण-स्थान, प्रयत्न आदि का अध्ययन होता है और दूसरी भौतिक ध्वनिविज्ञान (acoustic phonetics) है जिसमें ध्वनियों के भौतिक महत्व (physical attributes) की विवेचना होती है। एक तीसरी शाखा श्रौत्रिक

ध्वनिविज्ञान (perceptual phonetics) भी है जिसमें श्रोता के द्वारा गृहीत ध्वनियों के महत्व पर प्रकाश डाला जाता है। ध्वनि के इन तत्त्वों का संस्कृत के प्रातिशाख्य तथा शिक्षा-ग्रंथों में विशद विवेचन मिलता है।

इस प्रकार ध्वनियां अनन्त है पर प्रत्येक भाषा अलग अलग निश्चित ध्वनि-समूह अपने व्यवहार में लाती है। संभवतः इस व्यावहारिक दृष्टि-कोण को लेकर जैसा ऊपर कहा गया है, ध्वनियों के अध्ययन की एक नई पद्धति चल पड़ी है जिसे पारिभाषिक शब्दावली में ध्वनिग्रामिक विज्ञान (phonemics) कहा गया है। इसमें भाषा विशेष के लिये महत्वपूर्ण ध्वनियों का चयन उस भाषा में पाए जाने वाले शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर होता है। इसकी विस्तृत विवेचना आगे यथास्थान की गई है।

भाषा-विज्ञान का दूसरा अग पद-विज्ञान (morphology) है। इसमें पद-निर्माण के तत्त्वों का विश्लेषण किया जाता है। वाक्य मे प्रत्येक शब्द का एक निश्चित व्याकरणिक स्वरूप होता है जिसे पद की संज्ञा दी गई है। संबंध तत्त्वों (morphemes) के योग से पदों का निर्माण, संबंध तत्त्वों का ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक रूप, संबंध तत्त्वों के आधार पर व्याकरण की सूक्ष्म धाराओं (grammatical categories) के विकास आदि का सम्यक् अध्ययन इसका विषय होता है।

भाषा-विज्ञान का तीसरा अंग वाक्य-विज्ञान (syntax) है। इसमें वाक्य के गठन की विवेचना की जाती है। वाक्य में पदों की स्थिति, उनमें पारस्परिक संबंध आदि का अध्ययन होता है। इस दृष्टि से वाक्य-विज्ञान पद-विज्ञान से अधिक संबंधित है। संसार की भाषाओं

के वाक्य की आकृतियों का अध्ययन करके उनके भिन्न भिन्न प्रकारों की कोटियां निर्धारित कर ली गई हैं जिसे पारिभाषिक शब्दावली में टाइपोलॉजी (typology) कहते हैं।

भाषा-विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंग अर्थ-विज्ञान (semantics) भी है। यह शब्द एवं अर्थ के पारस्परिक संबंध तथा विकास का अध्ययन प्रस्तुत करता है। इसके लिये यह समाज की अन्य ज्ञान-धाराओं का मुखापेक्षी रहता है। इसमें अर्थ-विकास के अनेक कारणों एवं उसकी विविध धाराओं की विवेचना होती है।

प्रत्येक ध्वनि के तीन अंग नितांत आवश्यक हैं—ध्वनि का उत्पादन (production), वहन (transmission) और ग्रहण (reception) जिनके विशेष अध्ययन के लिये अपेक्षित ध्वनि-विज्ञान की तीन शाखाओं-उच्चारणिक (articulatory), भौतिक (acoustic) तथा श्रौत्रिक (auditory) का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। संसार की अधिकांश भाषाओं में पाई जाने वाली ध्वनियों की एक मुख्य विशेषता यह है कि भीतर से बाहर निकलने वाली श्वास ही मुख-अवयवों द्वारा विकृत होकर ध्वनि-रूप में प्रकट होती है पर कुछ भाषाएं ऐसी भी हैं जो कि वाह्य वायु को भी अंदर खींचते समय ध्वनियों का निर्माण करती है। ऐसी ध्वनियों को पारिभाषिक रूप में क्लिक् (click) ध्वनियां कहा गया है। किन्तु इन ध्वनियों की विस्तृत विवेचना न करके हम केवल इतना कह सकते हैं कि हिन्दी में अफ़सोस प्रकट करने के लिये 'चचचच' की ध्वनि संभवतः इन ध्वनियों के निकट होगी। भारत की मुंडा, सिंधी आदि भाषाओं में ऐसी कुछ ध्वनियों का प्रयोग होता है। अफ़्रीका की जंगली जातियों की भाषाओं में इन ध्वनियों का व्यापक प्रयोग होता है।

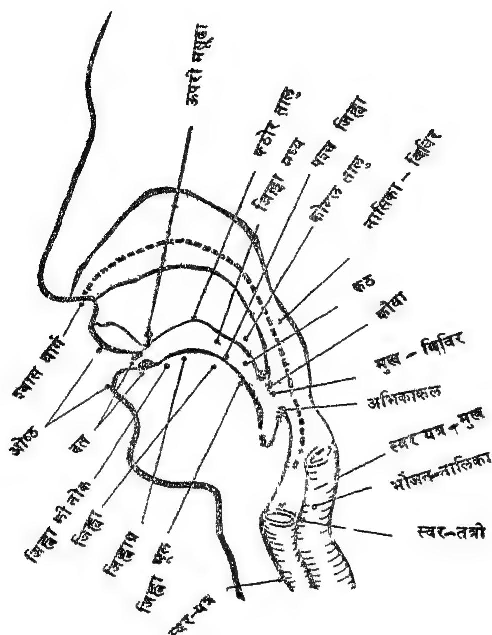
(क) ध्वनि-विकास

मनुष्य अपनी वाणी के अवयवों की सहायता से अगणित ध्वनियों का सृजन कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति की उच्चरित ध्वनियां दूसरे व्यक्ति से भिन्न होती हैं, प्रत्यक्ष रूप में वे ध्वनियां भले ही हमें समान मालूम पड़ें किन्तु सूक्ष्म विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कोई दो व्यक्ति समान ध्वनियों का उच्चारण नहीं करते। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि व्यक्ति को हम उसकी आवाज़ से पहचान लेते हैं। एक व्यक्ति एक शब्द का उच्चारण एक प्रकार से करता है और दूसरा व्यक्ति उसी शब्द का उच्चारण कुछ ऊंचे अथवा नीचे सुर में करता है। लेकिन उसके ऐसा करने से उस शब्द के अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता। इसीलिये हम शब्दों के उच्चारण की अनेकरूपता पर अधिक ध्यान भी नहीं देते। प्रत्येक शब्द में कुछ ध्वनियों का प्रयोग होता है लेकिन वही ध्वनियां दूसरे शब्दों में भी व्यवहृत होती हैं। उदाहरण के लिये नाप, विनाश, काटना में 'न्', 'आ' ध्वनियां शब्दों के आरंभ, मध्य और अंत में प्रयुक्त हुई हैं किन्तु इन ध्वनियों का उच्चारण उक्त स्थियों में समान ही है, यह कहना कठिन है। फिर भी इन ध्वनियों के योग से पृथक पृथक शब्द बने हैं। शब्दों में से इन समान ध्वनियों को पृथक नहीं किया जा सकता, शब्दों की ये ध्वनियां अविभाज्य हैं। इस प्रकार प्रत्येक ध्वनि की लघुतम महत्वपूर्ण इकाई को एक ध्वनि-ग्राम (phoneme) के रूप में माना जा सकता है। विभिन्न भाषाओं में कई ध्वनि-ग्राम समान हो सकते हैं किन्तु उनके उच्चारण में सूक्ष्म भिन्नता संभव है। फ़ारसी क़, ख़, ग़, ज़ आदि भिन्न ध्वनियां हैं, किन्तु हिन्दी में ये ध्वनियां क, ख, ग, ज के समान व्यवहृत होती हैं। उनमें पृथकता का लोप हो गया है। विदेशी भाषा की ध्वनियों का किसी अन्य देश के श्रोता के द्वारा यदि पूर्ण रूप से अनुकरण संभव हो तो वह उस विदेशी भाषा का शुद्ध उच्चारण करने में समर्थ

हो जाता है। वास्तविक कठिनाई समोच्चरित शब्दों में होती है। उदाहरण के लिये गया (नगर का नाम), गया (क्रिया), 'की' संबंध का चिह्न, की (क्रिया) सोया, सोया, खाना, खाना आदि। इनके उच्चारण में बहुत ही सूक्ष्म अंतर होता है जो साधारण तौर पर सुनने से मालूम नहीं किया जा सकता।

प्रत्येक भाषा में ध्वनि-ग्रामों की संख्या निश्चित होती है। इनकी संख्या कुछ दर्जनों तक ही सीमित होती है। एक ही ध्वनि-ग्राम जब शब्द की विभिन्न स्थितियों में व्यवहृत होता है तो उसके उच्चारण में सूक्ष्म अंतर होता है। ध्वनि-ग्राम के ये रूपान्तर एलोफ़ोन (allo-phones) के नाम से दिए गए हैं। जैसे हिन्दी ईख, इस और गइया-इन तीन शब्दों में 'इ' ध्वनियों के तीन रूप मिलते हैं, क्रम से दीर्घ, ह्रस्व और विलम्बित 'इ'। परन्तु यह विलम्बित अन्तिम 'इ' केवल-या ध्वनि के पूर्व ही आती है, इसलिये उसका भाषा के अर्थ पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता। यदि 'ईख' और 'इस' की भांति विलम्बित 'इ' भी इन दोनों के स्थान पर आ कर अर्थ-परिवर्तन लाती तो हम इसे स्वतन्त्र ध्वनि-ग्राम मानते। अब यह केवल उक्त दोनों का एक रूपान्तर मात्र है। भाषा के विभिन्न ध्वनि-ग्रामों के लिये अलग अलग लिपि-चिह्नों का निर्माण किया गया है, प्रत्येक ध्वनि-ग्राम के विविध रूपों के लिये अलग अलग लिपि-चिह्न नहीं मिलते। ध्वनि-ग्राम के अनुसार लिपि-चिह्नों का विकास भारतीय लिपि की विशेषता है। ध्वनिग्रामिक-विज्ञान (phonemics) की सबसे बड़ी विशेषता भाषा के लिपिचिह्नों का वैज्ञानिक आविष्कार है। भाषा परिवर्तनशील है और उच्चारण में जो नए नए ध्वनि-ग्राम प्रकट होंगे उनके लिये नये नये लिपि-चिह्नों का वैज्ञानिक रूप में आविष्कार होता रहेगा, ध्वनिग्रामिक विज्ञान (phonemics) की यह सब से बड़ी देन है।

ध्वनि-यंत्र



ध्वनि-अवयव

मनुष्य ध्वनियो के उत्पादन मे जिन शारीरिक अवयवो का उपयोग करता है उसे ध्वनि-यत्र (organ of speech) की सज्ञा दी गई है। फेफडे पहले अवयव है जो श्वास को लेने और निकालने मे अपना निरतर योग देते रहते है। बाहर निकलती हुई श्वास का प्रथम विकार स्वर-यत्र (larynx) मे होता है नासिका-रन्ध्रो से श्वास लेने और निकालने की नली को श्वास-नालिका (windpipe) और मुखसे भोजन

जिस नली द्वारा उदर में जाता है उसे भोजन-नालिका कहते हैं। दोनों के मार्ग अलग अलग हैं। स्वर-यंत्र में श्वास-नालिका के ऊपरी भाग में बहुत महीन तारों की बनी हुई लचीली झिल्लियाँ दायें और बांये होती हैं, उन्हें स्वर-तंत्री कहते हैं। इनके बीच का भाग खुलता ओर बंद होता रहता है झिल्ली के बीच का खुला भाग काकल (glottis) कहलाता है। इनका आकार भी अवस्था के अनुसार छोटा, बड़ा होता है। पुरुष और स्त्रियों के आकार में भी अन्तर होता है। पुरुषों का आकार स्त्रियों की अपेक्षा बड़ा होता है। स्वर-तंत्री की झिल्लियां मुख्यरूप से चार अवस्थाएं ग्रहण करती हैं। श्वास लेने की अवस्था में दोनों भाग शिथिल पड़े रहते हैं और काकल से श्वास निकलती रहती है। दूसरी अवस्था में स्वरतंत्रियों के दोनों भाग बिल्कुल समीप आकर एक दूसरे से रगड़ खाते हैं और स्वरतंत्री झंकृत हो उठती है। अनुमान है कि इन स्वरतंत्रियों में एक सेकिन्ड में ८० से १००० की संख्या तक कंपन होता है। ये कंपन संगीतात्मक होते हैं और इसके योग से उच्चरित ध्वनि घोष (voiced) होती हैं। पहली अवस्था में जब स्वरतंत्रियां निस्पंद पड़ी रहती हैं तो ऐसी संगीतात्मकता का अभाव होता है और इस रूप में उच्चरित ध्वनियां अघोष (unvoiced) होती हैं। भाषा की सभी ध्वनियां सघोष नहीं होतीं। यदि हम कंठ पर उंगली रखें अथवा दोनों कानों को हथेली से बन्द कर लें और फिर किसी ध्वनि का उच्चारण करें तो कुछ में कंपन का अनुभव होगा। यही कंपन घोष ध्वनियों की विशेषता है। सभी भाषाओं में कुछ ध्वनियां अघोष होती हैं। हिन्दी की क, ख, च, छ, प, फ आदि ध्वनियां अघोष हैं, ग, घ, द, ध, न, म आदि सघोष हैं। भाषा के संपूर्ण स्वर, अंतस्थ, अनुनासिक व्यंजन सघोष होते हैं।

पहली और दूसरी अवस्था के बीच में एक तीसरी अवस्था है जिसमें दोनों भाग इतने निकट आ जाते हैं कि श्वास-मार्ग बंद सा हो जाता है और श्वास एक रगड़ के साथ बाहर निकलती है। ऐसी अवस्था में

क्लिक् अथवा अरबी की हमज़ा या अंग्रेजी के हैन्ड् (hand) शब्द में 'ह' ध्वनि के उच्चारण होते हैं। इन्हें पारिभाषिक रूप में उपालजिह्वीय (glottal stop) ध्वनि कहते हैं। चौथी अवस्था वह है जब स्वर-तंत्रियां प्रायः मिल जाती हैं किन्तु नीचे का कुछ भाग खुला रहता है। इस अवस्था में फुसफुसाहट वाली ध्वनियों (whispered sounds) का उत्पादन होता है। मुख-विविर और नासिका विविर में पहुंचकर श्वास कई प्रकार की ध्वनियों में परिवर्तित हो सकती है। कभी कभी यह श्वास मुख-विविर से ही निकल कर ध्वनि का रूप धारण कर लेती है। यह कार्य कोमल तालु से ऊपर लगे हुए अलिजिह्वा (कौवा) के द्वारा संपन्न होता है। अलिजिह्वा मांस का छोटा अंश है जो कई अवस्थाएं ग्रहण करता है। मुख्य रूप से इसकी तीन अवस्थाएं होती हैं—साधारण अवस्था में यह शिथिल पड़ा रहता है और संपूर्ण श्वास नासिका विविर में पहुंच जाती है, यही हमारे श्वास लेने की अवस्था है। इस अवस्था में संस्कृत की अनुस्वार तथा अंग्रेजी की एम्, एन्, ङ्.ग् आदि ध्वनियों का उच्चारण बिना ओठ खोले होता है। जब यह तन कर खड़ा हो जाता है तो संपूर्ण श्वास मुख-विविर में पहुंचती है क्योंकि नासिका-विविर का द्वार यह बन्द कर देता है। निरनुनासिक स्वरों और व्यंजनों का उच्चारण इसी अवस्था में होता है और जब यह मध्यम अवस्था में रहता है (न बिल्कुल शिथिल और न तना) तो कुछ श्वास मुख-विविर से तथा कुछ नासिका-विविर से निकलती है। इस अवस्था में अनुनासिक स्वरों और व्यंजनों का उच्चारण किया जाता है। अनुनासिक तथा निरनुनासिक स्वर दोनों अलग अलग ध्वनियां मानी जायेंगी। उदाहरण के लिए चांद, कवंल, (कमल) कुवंर, चवंर आदि। इसमें आं, वं और साधारण आ, व भिन्न भिन्न ध्वनियां हैं। अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि में स्वर की अनुनासिकता आं (ᾶ) ओं (õ) के रूप में व्यक्त की जाती है। ब्लूमफील्ड ने अनुनासिक तथा निरनुनासिक ध्वनियों की परख इस प्रकार दी है—समतल रूप में दफ़्ती का कोई एक किनारा ऊपर

के ओठ से और दूसरा किनारा ठंडे शीशे के टुकड़े से लगाया जाय। अब यदि निरनुनासिक ध्वनि का उच्चारण होगा तो शीशा केवल दफ्ती के नीचे धुँधला पड़ जायेगा और अनुनासिक ध्वनि के उच्चारण मे धुंधलापन दफ्ती के ऊपर और नीचे दोनों ओर होगा और यदि अनुस्वार का उच्चारण किया जाय तो शीशा केवल दफ्ती के ऊपर धुँधला हो जायेगा।

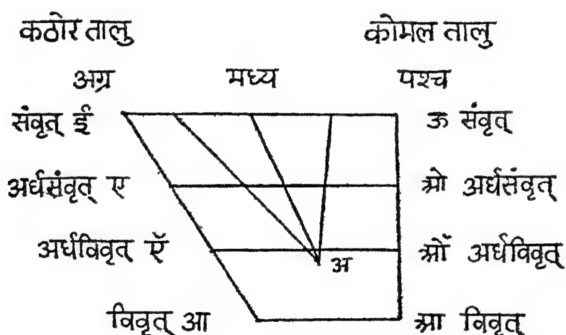
मुख-विविर में तालु, जिह्वा और ओष्ठ अनेक अवस्थाएं ग्रहण कर सकते हैं। कभी जिह्वा और तालु, जिह्वा और दांत और कभी जिह्वा तथा ओठों के योग से विविध ध्वनियों का सृजन होता है। ध्वनियों के सृजन में जिह्वा का महत्वपूर्ण योग रहता है। श्वास कभी संघर्षण, कभी अबाध और कभी बाधित रूप में निकलती है। इस प्रकार ध्वनियों के उच्चारण में ध्वनि-यंत्र के विविध अवयवों का योग अपेक्षित होता है।

मूल-स्वर

जब श्वास स्वर-तंत्री से विकृत होकर अबाध गति से मुख के बाहर निकलती है तो वह स्वर-रूप में प्रकट होती है। ये स्वर सामान्यतया सघोष होते हैं। स्वरों के उच्चारण में जिह्वा तथा ओष्ठ अनेक अवस्थाएं ग्रहण करते है। कभी जिह्वा का पिछला, कभी मध्य और कभी अग्र-भाग तालु की ओर उठता है और ओठ भी कभी चौड़े, कभी सकरे और कभी गोल आकार ग्रहण करते हैं। जिह्वा और ओठों की इन अवस्थाओं के अनुसार स्वरों के कई भेद किये गये हैं। इनके उच्चारण में जिह्वा तालु की ओर इतना ऊपर उठती है कि वह तालु को स्पर्श न करे, जिह्वा का अग्रभाग तालु की ओर उठकर अग्रस्वर, मध्य भाग ऊपर की ओर अत्यल्प उठकर मध्य स्वर तथा पश्च भाग ऊपर की ओर उठकर पश्चस्वर का निर्माण करती है। जिह्वा की स्थिति के अनुसार मुख-विविर का स्वरूप भी बदलता रहता है।

यदि जिह्वा ऊपर की ओर अधिक उठेगी तो मुख-विवर संकरा हो जायेगा और यदि कम उठेगी तो मुखविविर अधिक खुला रहेगा। मुख-विविर के इस परिणामपूर्ण स्थिति के अनुसार स्वरों के संवृत्, विवृत् आदि भेद किये जा सकते हैं। स्वरों के उच्चारण के अनुसार ओष्ठ का स्वरूप भी बदलता रहता है। पश्च स्वरों मे ओष्ठ गोलाकार हो जाते हैं और अग्र में ये चौड़े रहते हैं।

भाषाओं में स्वरों के भिन्न-भिन्न रूप मिलते हैं किन्तु अनेक स्वरों में समानता भी उपलब्ध होती है। भाषा के स्वरों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर कुछ मूल स्वर (cardinal vowels) मान लिये गये हैं और सभी भाषाओं के स्वर इन स्वरों की निश्चित स्थिति के अनुसार आंके जा सकते हैं। इसलिये इनको अंग्रेजी में स्टैंडर्ड स्वर (standard vowels) भी कहते हैं। इनका अन्वेषण प्रसिद्ध ध्वनि-विज्ञानी प्रो० डैनियल जोन्स ने किया। इनका विभाजन इस प्रकार से किया जा सकता है:—



हिन्दी भाषा के अर्धविवृत्, अग्र तथा पश्च स्वर मूलस्वरों के निर्धारित स्थान से प्रायः कुछ ऊंचे और संवृत्, अर्धसंवृत् अग्र और पश्चस्वर कुछ नीचे हैं।

संयुक्त स्वरों (diphthongs) में दो मूल स्वरों का योग रहता है लेकिन उनके उच्चारण में जिह्वा दोनों अवस्थाएं इतने वेग से ग्रहण करती है कि उसका सहज में अनुमान नहीं लगाया जा सकता। हिन्दी के 'ऐ', 'औ' संयुक्त स्वरों का योग अ+एँ और अ+ओँ है।

व्यंजन

स्वर-यंत्र से विकृत (सघोष) अथवा अविकृत (अघोष) श्वास जब मुख-विविर में पहुंचती है तो उसे कभी जिह्वा का कोई भाग, दांत या ओठ मुख से बाहर निकलने में क्षणिक बाधा पहुंचाते हैं। इस अवस्था में उच्चरित ध्वनि व्यंजन कहलाती है। इसके उच्चारण की तीन अवस्थाएं होती हैं— व्याघात (obstruction), अवरोध (stop), और मोचन (release)। व्यंजन बिना स्वर की सहायता के भी उच्चरित हो सकता है, अब यह एक मान्य सिद्धांत है। सघोष और अघोष व्यंजनों की पहचान का ढंग पहले बताया जा चुका है। आधुनिक वैज्ञानिक यंत्रों के आविष्कार से यह भेद बहुत स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है।

यदि जिह्वा, ओष्ठ या काकल के पास श्वास को रोक लिया जाय और फिर एकाएक उसे छोड़ा जाय तो श्वास एक स्फोट के साथ बाहर निकलती है। इनको स्फोट ध्वनियां (explosives) या स्पर्श (plosives) कहते हैं। इसमें श्वास क्षणमात्र के लिये ही रुकती है। इनके उच्चारण में जिह्वा तालु को या ओष्ठ परस्पर एक दूसरे को स्पर्श करते हैं इसलिये ये स्पर्श कहलाती हैं। इसके अन्तर्गत कंठ्य, मूर्धन्य, दंत्य, ओष्ठ्य व्यंजन आते हैं। यदि जिह्वा, ओष्ठ या काकल से श्वास का मार्ग इस प्रकार अवरुद्ध कर दिया जाय कि श्वास निकलने का मार्ग थोड़ा खुला रहे और वह रगड़ खाकर बाहर निकले तो ऐसी ध्वनियों को **संघर्षी** (fricatives) कहते हैं। यथा-ख़, ग़, ज़, फ़ आदि

(विदेशी), व़, ह (हिन्दी)। हिन्दी के तालव्य व्यंजन च, छ, ज, झ आदि स्पर्श-संघर्षी (affricates) होते है। यदि जिह्वा की नोक ऊपर के मसूड़े से लगा दी जाय तो जिह्वा के दोनों पार्श्वों का भाग खुला रहता है। इस अवस्था में उच्चरित ध्वनि पार्श्विक (lateral) कहलाती है। यथा-ल (हिन्दी, फ़ारसी आदि)। इसी स्थिति में यदि जिह्वा मसूड़े पर एक दो बार टक्कर मारे तो उच्चरित ध्वनि लुंठित या लोड़ित (rolled) होती है। जैसे र (हिन्दी, अंग्रेजी आदि)। व्यंजनों के उच्चारण में जब अधिक प्राण-शक्ति का योग रहता है अर्थात जब उसमे 'ह' ध्वनि का योग हो तो महाप्राण और जब इसका अभाव हो तो अल्पप्राण कहलातो है। इसकी पहचान इन रूपों के द्वारा की जा सकतो है—मुख के सामने उंगलियां रखी जांय तो प्राणयुक्त में एक फूत्कार (puff) होगा और प्राणहीन में यह नहीं होगा। दियासलाई को एक जलती हुई तीली मुख के सामने की जाय तो यह अल्प-प्राण ध्वनि के उच्चारण पर नही बुझेगी और महाप्राण के उच्चारण मे बुझ जातो है। ध्वनियों के वर्गीकरण का यह रूप श्वास निकालने में प्रयत्न-भेद के अनुसार होता है।

ध्वनियों के वर्गीकरण का एक मुख्य भेद ध्वनि-यंत्र के विविधि अवयवों के आधार पर किया जाता है। स्वर-यंत्र से आई श्वास जब कंठ के पास जिह्वा के पिछले भाग को कोमल तालु में लगाने पर अवरुद्ध होकर झटके से छोड़ी जाती है तो वह कंठ्य ध्वनि का सृजन करती है। इसे कोमल-तालव्य (velars) कहना अधिक समीचीन होगा क्योंकि इनके उच्चारण में जिह्वा कोमलतालु को ही स्पर्श करती है। जैसे क, ख, ग, घ आदि (हिन्दी)। जिह्वा का अग्र भाग जब कठोर तालु (hard palate) को स्पर्श कर श्वास को अवरुद्ध कर देता है तब स्फोट के साथ उच्चरित ध्वनि तालव्य (palatals) कहलाती है। यथा च, छ, ज, झ आदि (हिन्दी)। जिह्वा का अग्र भाग जब तालु के मध्य भाग (मूर्धा) से मिलकर श्वास को रोक देता है तो इस प्रकार

उच्चरित ध्वनि मूर्धन्य (cerebrals) कहलाती है। इस में जिह्वा की नोक उलट कर मूर्धा को स्पर्श करती है। हिन्दी की ध्वनियां ट, ठ, ड, ढ आदि इसी प्रकार की हैं। तालव्य व्यंजन का क्रम मूर्धन्य व्यंजन के बाद आना चाहिए क्योंकि मूर्धन्य में तालव्य की अपेक्षा जिह्वा तालु के और पहले भाग को स्पर्श करती है। संभवतः प्राचीन काल में तालव्य का उच्चारण-स्थान मूर्धन्य से पहले था इसीलिये संस्कृत-वर्णमाला में उसे मूर्धन्य से पहले रखा गया है। जिह्वा का अग्र-भाग जब ऊपर के दांत को स्पर्श करके श्वास में रुकावट डालता है तो उच्चरित ध्वनि दंत्य (dentals) कहलाती है। यथा त, थ, द, ध आदि (हिन्दी)। श्वास दोनों बंद ओष्ठों पर क्षणमात्र के लिये रुक कर जब स्फोट के साथ निकलती है तो उच्चरित ध्वनि ओष्ठ्य (labials) कहलाती है। हिन्दी की प, फ, ब, भ आदि ध्वनियां इसी प्रकार की हैं। जब मसूड़े पर लगी हुई जिह्वा की नोक के पास श्वास क्षणमात्र के लिए रोक कर फिर मुक्त की जाती है तो वर्त्स्य ध्वनियां (alveolars) उच्चरित होती हैं। यथा हिन्दी न, र, ल आदि, अंग्रेजी ट़, ड़। कुछ ऐसी भी ध्वनियां होती हैं जिनमें नीचे का ओष्ठ्य ऊपर के दांत को स्पर्श करता है। इन्हें दन्त्योष्ठ्य (labio-dentals) कहते हैं। अंग्रेजी के फ़ व (f,v), फ़ारसी की फ़, व ऐसी ही ध्वनियां हैं। श्वास जब स्वर-यंत्र के ऊपर रगड़ खाकर बाहर निकलती है तो ध्वनि स्वरयंत्रमुखी (glottal) कहलाती है। जैसे ह, ह़ (हिन्दी, फ़ारसी आदि)।

स्वरों और व्यंजनों के उच्चारणसे यह स्पष्ट होता है कि स्वरों के उच्चारण में मुख विविर अधिक से अधिक खुला रहता है और व्यंजन में कम से कम। जैसे हिन्दी आ और प। 'आ' स्वर तथा 'प' व्यंजन के उच्चारण में मुख-विविर के खुलने और बन्द होने की क्रमशः अंतिम स्थिति है। अन्य स्वरों और व्यंजनों का उच्चारण इन दोनों स्थितियों के बीच होता है। कभी कभी ध्वनियों का उच्चारण मध्यम रूप में होता

है। वे न पूर्णतया स्वर होते हैं और न व्यंजन। ऐसी ध्वनियों को अर्ध-स्वर (semi vowels) के नाम से कहा जाता है। जैसे हिन्दी य, व। ऊपर जिन ध्वनियों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया वे सभी अलग-अलग ध्वनि-ग्राम (phoneme) हैं जो समान रूप में उच्चरित ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो एक ही ध्वनिग्राम उच्चारण में कभी कभी दो ध्वनिग्राम और दो ध्वनिग्राम एक ध्वनिग्राम से जान पड़ते हैं। अंग्रेजी भाषा में लॉत्स् (lots) में 'त्स' दो ध्वनिग्राम हैं और ये शब्द के आदि में कभी प्रयुक्त नहीं होते। किन्तु जर्मन-भाषा में यह एक ध्वनिग्राम है और शब्द में कहीं भी प्रयुक्त हो सकता है। यह स्वाभाविक है कि कभी कभी जो ध्वनि-ग्राम किसी एक भाषा में सरलता से प्रयुक्त हो सकता है वही दूसरी भाषा में कठिनाई से व्यवहृत हो पाता है। वह इस कारण है कि प्रत्येक शब्द के गठन में विभिन्न ध्वनियों के सामंजस्य की अपनी विशेषता रहती है।

इस संबंध में ध्वनियों के उत्पादन और प्राप्ति के अनुसार दो मत हैं। एक मत के अनुसार ध्वनियों की मुख्य विशेषता श्रोत्रेंद्रिय द्वारा उन का ग्रहण है, न कि विविध अवयव जिनसे ध्वनियों का उच्चारण होता है। भाषा की ध्वनियां अनुकरण से ही सीखी जाती हैं, न कि अवयवों के अनुसार उनका उच्चारण सिखाया जाता है। ध्वनियों के पार्थक्य को श्रोत्रेन्द्रिय ही परखती है। वैज्ञानिक आविष्कारों से स्पष्ट किया गया है कि किन्हीं दो व्यक्तियों के उच्चारण-अवयव बिल्कुल एक से नहीं होते इसलिये इनके आधार पर किया गया वर्गीकरण पूर्ण वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता किन्तु उच्चारण के अवयवों को प्रधानता देने वाले विशेषज्ञों का मत है कि अनुकरण से ध्वनियों का ग्रहण होता अवश्य है किन्तु बिना अवयवों के ध्वनियों का उच्चारण संभव नहीं। 'ह' ध्वनि तथा अघोष स्पर्श व्यंजनों का उच्चारण तीव्र नहीं होता इसलिये केवल सुनने

से ही उसका ग्रहण समुचित रूप में संभव नही। उच्चारण के अवयवों में सूक्ष्म भेद होते हुए भी उनके द्वारा उच्चरित ध्वनियों में एक समानता है और ऐसी प्रत्येक उच्चरित ध्वनि को एक ध्वनिग्राम के रूप में माना जा सकता है।

ध्वनियों के वर्गीकरण की दृष्टि से दोनों मतों का महत्व है। सघोष अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण आदि ध्वनियों मे भेद सुनने के आधार पर ही होता है। स्वरों और व्यंजनों की विविधता उच्चारण-अवयवों पर भी आधारित है। भाषा के परिवर्तन में दोनों का ही योग मिलता है। जिह्वा, तालु आदि के योग से ध्वनियों में बराबर परिवर्तन होता रहता है।

ध्वनि-गुण

उपरोक्त विशेषताओं के अतिरिक्त ध्वनियो की कुछ सामान्य विशेषताएं भी होती हैं। लय (स्वर-भेद), मात्रा, स्वराघात ऐसी ही विशेषताएं है। अनेक व्यक्ति ध्वनि-विशेष का उच्चारण यद्यपि समान रूप में करते हैं किन्तु उनमें सूक्ष्म भिन्नता रहती ही है, इसका मुख्य कारण ध्वनि का संघटन (structure) है। ध्वनियों के उच्चारण में श्वास के प्रयोग में भी भिन्नता होती है। इसलिए यदि ध्वनियों का सामान्य रूप न भी बदले लेकिन प्रत्येक के लय, सुर आदि में भेद हो जाता है। पहले कहा जा चुका है कि इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने उच्चारण से ही पहचान लिया जाता है।

दूसरी विशेषता स्वराघात की है। प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण में स्वतंत्रियों की झंकार अधिक या कम मात्रा में होती है। अधिक झंकार होने पर सुर ऊँचा होता है और कम झंकार से सुर नीचा होता है। स्वरतंत्रियां यदि दीर्घाकार हैं तो झंकार कम होती है। पुरुष की तंत्रियां स्त्रियों की अपेक्षा बड़ी होती हैं इसलिये उनका सुर स्त्रियों की अपेक्षा

नीचा होता है। स्वर में तंत्रियों का योग होने के कारण वे गाने में अधिक व्यवहृत होती हैं। अघोष व्यंजन की अपेक्षा सघोष व्यंजन भी गाने में अधिक सरल होते हैं। स्वर-तंत्रियों के योग के साथ यदि श्वास ज़ोर से एक बारगी बाहर फेंकी जाय तो उच्चारण एक प्रकार का होता है और श्वास को आरोह, अवरोह के साथ निकालने में उच्चारण भिन्न प्रकार का होता है। पहले प्रकार का उच्चारण बलात्मक स्वराघात और दूसरा गीतात्मक स्वराघात कहलाता है। बलात्मक स्वराघात में श्वास को निकालने के अनुसार भेद हो जाते हैं। उच्चतम (highest stress), उच्च (high) और निम्न (low) तीन भेद हैं। पहले का प्रयोग प्रायः निषेध या भेद दिखाने के लिये, दूसरे का प्रयोग प्रत्येक शब्द के एक अक्षर पर और तीसरे का प्रयोग बड़े या समास शब्दों के एक या अधिक अक्षरों पर होता है। भारोपीय परिवार की आधुनिक भाषाएँ प्रायः बलात्मक स्वराघात का प्रयोग करती हैं। हिन्दी में भी बलात्मक स्वराघात का प्रयोग होता है। इसके कई रूप हैं। गीतात्मक स्वराघात के कई भेद होते हैं। चीनी भाषाएँ सुर भेदों में सबसे अधिक संपन्न हैं। चीनी की आदर्श विभाषा मन्दारी (Mandarin) में चार सुरभेद होते हैं। उच्च सम (high level), उच्च आरोह (high rising), निम्न आरोह (lowrising) और निम्न अवरोह (low falling) जैसे 'फु' का पहले सुरभेद के अनुसार, मनुष्य, पति, दूसरे के अनुसार 'धन,' 'सुख,' तीसरे के अनुसार साधक और चौथे के अनुसार 'धनी' अर्थ होगा। इन्हीं चारों के उच्च और निम्नभेद के अनुसार कैन्टन के समीप फ़ोकियन (Fokien) विभाषा में आठ सुरभेद होते हैं। इन्डोचीन की तई (Tai) में १० सुरभेद होते हैं। अफ़्रीका की भाषाओं में भी सुरभेद का प्रयोग मिलता है। होटेटांट में तीन सुर-भेद, बाँटू की दुआल विभाषा में भी तीन होते हैं। यथा 'म्ब' का उच्च में 'मैं,' निम्न में 'बादल' और आरोह में जिमीकंद अर्थ होगा। वैदिक संस्कृत और ग्रीक में भी सुरभेद के उदाहरण मिलते हैं। भारोपीय

परिवार की प्राचीन भाषाओं में गीतात्मक स्वराघात का प्रयोग होता था। संस्कृत में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन भेद थे। उदात्त में उच्च, अनुदात्त में निम्न और स्वरित में सम उच्चारण होता था। इनको चिह्नित भी किया जाता था। ग्रीक में ऐक्यूट (acute), ग्रेव (grave) और सरकमफ्लेक्स (circumflex) का भेद था। पहला उच्च, दूसरा निम्न और तीसरे में सम उच्चारण होता था। भारोपीय परिवार की आधुनिक लिथुएनी भाषा में गीतात्मक स्वराघात अब भी पाया जाता है।

गीतात्मक और बलात्मक स्वराघात एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न नहीं हैं। दोनों एक दूसरे से किसी अंश में संबंधित भी हैं। सुर के साथ बलात्मक रूप का प्रयोग और बलात्मक के साथ सुर का प्रयोग हो सकता है। बलात्मक स्वराघात का प्रभाव ध्वनि-परिवर्तन पर पड़ता है। शब्द के जिस स्वर पर यह होता है वह स्वर सुरक्षित रहता है और उसके आस-पास के स्वर जिन पर यह नहीं होता, उनका लोप या परिवर्तन हो जाता है। अपश्रुति (ablaut) के उदाहरणों में इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसमें स्वरों के मात्रा और गुण सम्बन्धी (quantitative and qualitative) दोनों प्रकार के परिवर्तन मिलते हैं— आ। अ, जैसे काम से कमाई (हिन्दी)।

प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण में कुछ समय लगता है। उच्चारण के समय की माप मात्रा (mora) के द्वारा की जाती है। इसका विभाजन ह्रस्व, दीर्घ आदि रूपों में किया जाता है। ह्रस्व, दीर्घ रूपों को चिह्नित करके दिखाया जाता है। अंग्रेजी में ह्रस्व के लिये कोई चिह्न नहीं हैं, कुछ दीर्घ के लिये एक कोलन-चिह्न और दीर्घ के लिये दो कोलन-चिह्नों का प्रयोग होता है। दीर्घ रूप को दिखाने के लिये के लिये स्वर और व्यंजन के ध्वनि-चिह्न दो बार लिख दिये जाते हैं। जैसे पिक (Pick), पीक (peak); हिन्दी में ह्रस्व, दीर्घ आदि

मात्राओं का प्रयोग होता है। संस्कृत में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तीन प्रकार की मात्राओं का विधान है। किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि दीर्घ मात्रा में ह्रस्व की अपेक्षा दुगुना समय लगता है और प्लुत में तिगुना या इससे कम अथवा अधिक। यह आवश्यक नहीं है कि विविध भाषाओं की मात्रा में समय की माप एक समान हो। एक भाषा में जो मात्रा दीर्घ है वही दूसरी भाषा में ह्रस्व हो सकती है। ह्रस्व और दीर्घ का भेद कभी कभी सुनने पर भी निर्भर करता है। कोई स्वर ह्रस्व होते हुए भी अपनी विशेषता के कारण दीर्घ जान पड़ता है और दीर्घ ह्रस्व हो जाता है। पुकारने में शब्द के अंतिम स्वर-भाग को श्वास के साथ देर तक उच्चरित किया जा सकता है। ऊष्म व्यंजन श, ष, स भी इसी प्रकार कम या अधिक समय तक उच्चरित हो सकते हैं।

ध्वनि-परिवर्तन

ध्वनियों में परिवर्तन एक नियमित दिशा तथा परोक्ष रूप में होता है। भाषा के प्रत्यक्ष एवं स्थिर रूपों में जो परिवर्तन होता रहता है उसे प्रत्यक्षरूप में हम भले ही न देख सकें लेकिन कालान्तर में वह परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है। भाषा के रूप बनते और बिगड़ते रहते हैं और इसी आधार पर पुरानी भाषा नई भाषा को जन्म देकर समाप्त भले ही न हो लेकिन नई भाषा पुरानी भाषा का स्थान ले लेती है। नई फिर पुरानी हो जाती है और वह पुनः एक नई भाषा का विकास करती है। इस प्रकार यह क्रमिक विकास भाषा के क्षेत्र में निरंतर होता रहता है और इस विकास का मूलाधार है—ध्वनि-परिवर्तन। भाषा के इस ऐतिहासिक विकास का अध्ययन तभी संभव होता है जब उसकी सामग्री लिपिबद्ध हो। भाषा की लिपि-परंपरा जितनी प्राचीन होगी उतना ही उसके ऐतिहासिक विकास का अध्ययन भी

किया जा सकता है। लिखित सामग्री के उपलब्ध होने पर ही भाषाओं के तुलनात्मक स्वरूप का विवेचन संभव होता है। आदिम आर्य भाषा की कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है फिर भी प्राचीन आर्य भाषाओं की उपलब्ध सामग्री के तुलनात्मक विवेचन से उसके स्वरूप को स्पष्ट किया जा सका है।

भाषा के सभी रूपों—ध्वनि, उच्चारण, शब्द-गठन, व्याकरण, अर्थ, वाक्य-गठन में परिवर्तन अवश्यंभावी है। इनमें ध्वनि-परिवर्तन पर ही भाषाविज्ञानियों की दृष्टि सबसे अधिक गई है क्योंकि अन्य अंगों की अपेक्षा ध्वनियाँ ही अधिक प्रत्यक्ष होती हैं। ध्वनि-परिवर्तन के कारणों पर भी भाषाविज्ञानियों ने काफी विचार किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार ध्वनियों का परिवर्तन मनुष्य की ध्वनि-यंत्र की बनावट की भिन्नता के कारण होता है। किन्तु यह मत मान्य नहीं है। ध्वनि-यंत्र की स्वर-तंत्रियों, विभिन्न अवयवों के आकार-प्रकार में वैज्ञानिकों ने सूक्ष्म भेद अवश्य माना है किन्तु ध्वनि-परिवर्तन पर उसका कोई महत्व-पूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता। जेस्पर्सन के मतानुसार कोई भी ध्वनि-विशेषज्ञ ध्वनि-अवयवों के द्वारा प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण को सिखा सकता है चाहे वह उसकी भाषा की न भी हों। इसके अतिरिक्त ध्वनि-परिवर्तन से भाषा में कोई बिल्कुल नई ध्वनि का आगम या लोप नहीं होता वरन् उसी ध्वनि का स्थानीय परिवर्तन हो जाता है। एक स्थान से वही ध्वनि हटकर दूसरे स्थान में व्यवहृत हो जाती है। अस्वाभाविक प्रयत्नों से भाषा के किसी ध्वनि के उच्चारण में परिवर्तन या लोप भले ही हो जाय लेकिन परिवर्तन की वह कोई नियमित दिशा नहीं है। उच्चारण के ढंग, श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ध्वनियों के ग्रहण तथा स्वराघात के कारण ध्वनियों में परिवर्तन अवश्य होता है।

प्रत्येक भाषा के उच्चारण में अवयवों की अपनी विशेष स्थिति होती

है। यह प्रत्येक भाषा-भाषी की परम्परागत विशेषता होती है जिसे दूसरा भाषा-भाषी साधारणतया एकाएक नहीं सीख सकता। बंगला, भोजपुरी भाषा का प्रयोग करने वाला हिन्दी, पंजाबी का उच्चारण पूर्ण स्वाभाविक रूप में नहीं कर पाता। अंग्रेजी बोलने वाला फ्रेंच भाषा का सहज रूप में उच्चारण नहीं कर सकता। कुछ भाषाओं में एक ही वर्ग की महाप्राण, अल्पप्राण, सघोष और अघोष ध्वनियों में कोई विशेष अन्तर नहीं होता किन्तु कई में ये अलग अलग ध्वनियां हैं। बंगला भाषा-भाषी हिन्दी के वर्गीय अल्पप्राण व्यंजन को महाप्राण और पंजाबी भाषा-भाषी हिन्दी के वर्गीय सघोष व्यंजन को अघोष व्यंजन के रूप में उच्चारण करना कोई अशुद्ध बात नहीं मानता। किन्तु हिन्दी में ये सब अलग अलग ध्वनियां हैं। अंग्रेज़ी में प, ब, का अन्तर है किन्तु जर्मन विभाषाओं के शब्दांत में ये दोनों एक ही ध्वनि हैं। भाषाओं का आदान-प्रदान होने पर उपरोक्त कारणों से ध्वनि-परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक ही है। संस्कृत में मूर्धन्य व्यंजनों का प्रयोग द्रविड़ जाति का संपर्क बताया जाता है। अन्य प्राचीन भारोपीय भाषाओं में इसका अभाव मिलता है। अतएव जातियों के संपर्क से ध्वनियों में परिवर्तन अथवा परिवर्धन होता रहता है।

स्वराघात का प्रभाव भी भाषा के ध्वनि-परिवर्तन पर पड़ता है, यह पहले कहा जा चुका है। हिन्दी में चलना, चलाना, पिटना, पीटना आदि, अंग्रेजी—सिंग, सैंग, संग (sing, sang, sung) में अंतर इसी कारण माना जाता है। सुर-भेद से एक ही शब्द में कभी एक अक्षर का और कभी दूसरे का परिवर्तन हो जाता है। जैसे सं० पिता के लिये जर्मन में 'वतेर' और सं० भ्रातृ के लिये ब्रूदेर (bruder) शब्द। पहले शब्द में स्वराघात दूसरे अक्षर पर और दूसरे शब्द में स्वराघात पहले अक्षर पर है। शब्द में एक ही अक्षर के पूर्व स्वराघात और उसके बाद में स्वराघात होने से उस अक्षर का व्यंजन-परिवर्तन

हो जाता है। जैसे *कमतोम् लेटिन-केन्तुम्, जर्मन-हुन्द, सं० शतम् आदि।

अतएव यह स्पष्ट है कि मनुष्य में ध्वनियंत्र की गठन से या श्रवणेन्द्रिय की भिन्नता से ध्वनियों में परिवर्तन नहीं होता वरन् दोष-पूर्ण उच्चारण अथवा अपूर्ण रूप से सुनने से परिवर्तन होता है। कुछ विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि जलवायु या भौगोलिक प्रभाव के कारण ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। एच्० कॉलित्स् ने इसके प्रमाण में पर्वतीय प्रदेश की भाषाओं में व्यंजन-परिवर्तन का उदाहरण बताया है। दक्षिणी जर्मनी (पर्वतीय भाग) में व्यंजन-परिवर्तन उपलब्ध होता है और उत्तर जर्मनी (मैदानी भाग) में यह उपलब्ध नहीं होता। अल्पप्राण व्यंजन प्रायः महाप्राण हो जाते हैं। इसका कारण श्वास निकालने की गहनता है और उच्च पर्वतीय प्रदेश में फैफड़ों को कुछ उत्तेजना मिलती है इसलिये उक्त परिवर्तन स्वाभाविक है। जेस्पर्सन ने इसका खंडन करते हुए लिखा है कि सभी पर्वतीय प्रदेशों में इस प्रकार का परिवर्तन नहीं पाया जाता, साथ ही मैदानी भागों में भी यह परिवर्तन उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त परिवर्तन फेफड़ों की उत्तेजित अवस्था से सम्बन्धित नहीं है वरन् अभिकाकल से। साथ ही यह कथन भी ठीक नहीं है कि पहाड़ी अथवा रेगिस्तानी प्रदेश के लोग मुख खुला नहीं रखते और इसलिये उनके उच्चारण स्पष्ट नहीं होते। जब वे अधिक परिश्रम के आदी होते हैं तो मुँह खोल कर उच्चारण करने में उन्हें क्या असुविधा है ? हां, यह अवश्य है कि भौगोलिक सीमाओं का प्रभाव भाषा पर परोक्ष रूप से पड़ता है। जातियों के अधिक संपर्क के कारण वाह्य प्रभावों से भाषा में परिवर्तन हो जाता है और यदि देश की सीमाएँ इसमें बाधा डालें तो प्रभाव पड़ेगा ही क्यों ? वाह्य प्रभाव मैदान की भाषाओं में अधिक सहज हो सकते हैं और पर्वतीय भाषाओं में अपेक्षाकृत कम।

एक मत यह भी प्रकट किया गया है कि जातीय मानसिक अवस्था से भाषा में परिवर्तन होते हैं। याकोव ग्रिम ने यह प्रतिपादित किया कि जर्मन भाषा मे व्यंजन-परिवर्तन वहां के भाषा-भाषी लोगों की उन्नतिशील और स्वच्छन्द प्रकृत्ति का द्योतक है। नवीन जातियों के आगमन के कारण यह परिवर्तन उनके उत्साह और गर्व का परिचायक है। कुछ इसे उनकी दुर्बलता और आलस्य का चिन्ह मानते हैं। इस परिवर्तन को कुछ उनकी स्त्रीत्व तथा सौन्दर्य-लिप्सा की भावना के कारण मानते है किन्तु भाषा के ध्वनि-परिवर्तन में मानसिक अवस्था का कोई प्रभाव नही पड़ता। उसका कारण जातीय संगठन की शिथिलता हो सकती है। किसी कारण से परिवार में स्वच्छन्दता तथा निरंकुशता की भावना फैल जाने पर भाषा में शीघ्र परिवर्तन हो सकता है क्योंकि तब वाह्य सपर्क और प्रभाव अधिक सहज हो जाते हैं।

जर्मन भाषा मे ध्वनि-परिवर्तन का एक कारण वुन्ड नामक विद्वान ने बोलने में शीघ्रता को माना है किन्तु जेस्पर्सन ने इस कारण का खडन करते हुए लिखा है कि ऐसा परिवर्तन केवल एक सीमित काल और स्थान में ही क्यों हुआ। भाषा के परिवर्तन में कुछ मूल प्रवृत्तियां होती है जो किसी स्थान अथवा काल से बद्ध नहीं होतीं वरन् सभी कालों और स्थानों में सामान्य रूप से पाई जाती हैं। इस दिशा में प्रयत्न-लाघव (economy of effort) को प्रायः सभी विद्वान भाषा-परिवर्तन का सर्वप्रचलित मत मानते हैं। भाव की अभिव्यक्ति में समय और प्रयत्न की बचत कौन न करना चाहेगा। साधारण कार्य-व्यवहार में भी हम कम प्रयत्न और कम से कम समय में अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेना चाहते हैं। मुख-सुख के कारण कठिन ध्वनियों का उच्चारण छोड़कर सहज ध्वनियों का उच्चारण अपनाया जाता है। विशेष रूप से ऐसी कठिनाई का अनुभव विदेशियों को होता है। कभी यह भी देखा जाता है कि ध्वनियों का स्पष्ट उच्चारण

आवश्यक प्रयत्न के साथ नहीं किया जाता। यही प्रवृत्ति लिखने में भी दिखाई पड़ती है। समय की बचत या आदत के कारण लोग इतना घसीट लिखते हैं कि कई वर्ण-चिन्हों का समझ सकना दुष्कर कार्य होता है।

कुछ ध्वनियों का उच्चारण सहज होता है और कुछ का कठिन। स्पर्श ध्वनियों में कंठ्य, दंत्य, ओष्ठ्य की अपेक्षा मूर्धन्य या तालव्य का उच्चारण कठिन होता है। स्पर्श की अपेक्षा संघर्षी, लोड़ित, उत्क्षिप्त ध्वनियों के उच्चारण में भी कठिनाई होती है। जेस्पर्सन ने प्रयत्न-लाघव को आलस्य, शिथिलता, शक्तिहीनता, निश्चलता, मन्दता, सुस्ती आदि का पर्यायवाची माना है। इसमें संदेह नहीं कि भाषा-परिवर्तन के मूल में ध्वनि-परिवर्तन ही मुख्य है और ध्वनियों के परिवर्तन का मूल आधार प्रयत्नलाघव की विशेष प्रवृत्ति है।

भाषा में मूल ध्वनियों की अपेक्षा संयुक्त ध्वनियों का उच्चारण कठिन होता है। अतः संयुक्त स्वर और संयुक्त व्यंजनों में बराबर परिवर्तन होता रहता है। प्राचीन वैदिक भाषा में ऐ, औ संयुक्त स्वरों का उच्चारण क्रमशः आ + इ = ऐ और आ + उ = औ रूप में होता था। लौकिक संस्कृत में ये अ+इ= ऐ और अ + उ=औ के रूप में उच्चरित होने लगे। संस्कृत के बाद प्राकृत-काल में इनका परिवर्तन मूल स्वर के रूप में ऐ 7 ए, औ 7 ओ हो गया। आधुनिक आर्य भाषा हिन्दी में ऐ, औ का प्रयोग होता है किन्तु इनका उच्चारण अ + ऐं 7 ऐ, अ + ओं 7 औ के रूप में किया जाता है। इसी प्रकार संयुक्त व्यंजनों के परिवर्तन की कई दिशाएं मिलती हैं। सुविधाजन्य प्रवृत्ति के कारण कभी संयुक्त व्यंजन के एक व्यंजन का लोप, कभी दोनों व्यंजनों को एक समान और कभी दोनों के बीच कोई स्वर डालकर विभक्त कर दिया जाता है।

संयुक्ताक्षर में जब दोनों ध्वनियां समान हो जाती हैं तो उसे पारिभाषिक रूप में समीकरण (assimilation) की सँज्ञा दी गई है। यह दो प्रकार का होता है। जब संयुक्ताक्षर की पहली ध्वनि बाद वाली ध्वनि को अपने सदृश बना लेती है तो पुरोगामी समीकरण होता है और जब बाद की ध्वनि पहली ध्वनि को अपने समान कर ले तो पश्चगामी समीकरण होगा। जैसे सं० अग्नि 7 अग्गि प्रा०, हिं०आग, सं० चक्र 7 प्रा० चक्क, हिं० चाक। सं० पत्र 7 प्रा० पत्त, हिं० पात आदि। (पुरोगामी), सं० सर्प 7 प्रा० सप्प, सं० दुग्ध 7 प्रा० दुद्ध, सं० बल्कल 7 प्रा० वक्कल आदि (पश्चगामी)।

समीकरण का विपरीत रूप विषमीकरण (dissimilation) है। इसमें शब्द की समान निकटस्थ ध्वनियों में से एक का लोप या परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन स्वर और व्यंजन दोनों में मिलता है। जैसे सं० वीरवर 7 हिं० वीरबल, (व्यंजन), सं० मुकुट 7 प्रा० मउड, हिंदी मौड़ (स्वर) आदि।

जब बीच में कोई स्वर डालकर संयुक्ताक्षर को विभक्त कर दिया जाता है तो वह स्वर-भक्ति (anaptyxis) कहलाता है। जैसे सं० रत्न 7 प्रा० रदण (हिं० रतन), सं० दर्शन 7 प्रा० दरिशण, सं० कृष्ण 7 हिं० किशन, सं० भक्त 7 हिं० भगत, सं० कृपा 7 हिं० किरिपा, अंग्रेजी स्टेशन 7 पं० सटेशन, स्कूल 7 पं० सकूल आदि। संयुक्ताक्षर का उच्चारण शब्द के आरंभ में कठिन होता है। अतः उसके पहले कोई स्वर का आगम हो जाता है। इसे स्वरागम या अग्रागम (prothesis) कहते हैं। जैसे सं० स्त्री 7 प्रा० इत्थी, सं० स्नान 7 हिं० अस्नान, सं० स्थान 7 हिं० अस्थान आदि। अंग्रेज़ी स्कूल, स्टेशन के उच्चारण मे संयुक्ताक्षर के पूर्व ह्रस्व स्वर - अ या - इ का आगम कर दिया जाता है। शब्द के मध्य और अन्त में भी स्वरों और व्यंजनों का आगम मिलता

है। शब्द में संयुक्ताक्षर के अतिरिक्त जब मध्य में कहीं और स्वरागम होता है तो वह मध्य स्वरागम (epenthesis) कहलाता है। जैसे सं० सर्व 7 ईरानी हौर्व, सं० सोम 7 ई० हओम, सं० लाश 7 हिं० लहाश, फ़ा० ख़ां 7 हिं० ख़ान। अंत व्यंजनागम - भौं 7 भौंह, उमरा 7 उमराव। इसी प्रकार आदि, मध्य, अंत में अक्षरागम भी होता है। यथा–गुंजा 7 घुंगुची, सं० शाप 7 हिं० श्राप, वधू 7 वधूटी आदि।

संयुक्ताक्षर या शब्द में स्वर, व्यंजन अथवा अक्षर का लोप भी मिलता है। शब्द में आदिध्वनि लोप (aphesis), मध्यध्वनि लोप (syncope) तथा अन्त्य ध्वनि लोप (apocope) होता है। जैसे सं० श्मशान 7 प्रा० मसाण (हिं० मसान), सं० स्नेह 7 प्रा० णेह, (हिं० नेह), सं० स्पर्श 7 प्रा० फंस, सं० स्थान 7 प्रा० ठाण, (हिं० ठांव), सं० प्रिय 7 प्रा० पिअ (हिं० पिया), सं० द्वादश 7 हिं० बारह, सं० चन्द्र 7 हिं० चन्द, सं० द्विज 7 प्रा० दिज, सं० जीव 7 जी हि० आदि।

संस्कृत के संयुक्ताक्षर प्राकृत में जो समीकृत रूप में बदल जाते हैं वे अपनी एक ध्वनि का लोप कर के हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं। जैसे सं० कर्म 7 प्रा० कम्म 7 हिं० काम, सं० वल्कल 7 प्रा० वक्कल 7 हिं० बाकल (बकला) आदि। अन्त्य-ध्वनि लोप के भी उदाहरण मिलते हैं। जैसे सं० आत्मन् 7 प्रा० अप्प 7 हिं० आप आदि। शब्द में अक्षर-लोप (haplology) भी होता है। जैसे सं० विडालिका 7 हिं० विलइआ, सं० मधुदुघ 7 मदुघ सं० कृष्णनगर 7 कृष्नगर आदि।

शब्द में समीपवर्ती ध्वनियों का विपर्यय भी मिलता है। इसे ध्वनि-विपर्यय (metathesis) कहते हैं। बच्चे जलेबी को अक्सर जबेली, अमरूद को अरमूद, बाक्स को बसक, डेस्क को डेक्स कहते हुए सुने जा कते हैं स। नहाना को हनाना, डूबना को बूड़ना, लखनऊ को नखलऊ

आदि का प्रयोग बड़े बूढ़े लोगों में भी प्रचलित है। पंजाबी भाषा-भाषी 'मतलब' को बराबर 'मतबल' ही कहते सुने जायेंगे। ईरानी शब्द वफ़ उर्दू में बर्फ हो गया है। कभी-कभी संयुक्ताक्षर की एक ध्वनि या दोनों का परिवर्तन करके फिर स्थान-विपर्यय कर लिया जाता है। जैसे स 7 ह करके सं० स्नान 7 प्रा० ण्हाण हिं० नहान, वैदिक युष्मे 7 प्रा० तुम्हे, तुम्ह 7 हिं० तुम।, स० जिह्वा 7 प्रा० जिव्हा, सं० चिह्न 7 हिं० चिन्ह सं० वाराणसी 7 हिं० बनारस, सं० लघु 7 हिं० हलुक, आदि।

प्रायः यह देखने में आता है कि बड़े बड़े शब्दों का उच्चारण अधिक सुविधाजन्य नहीं होता। अतः उन्हें लघु कर लियाजाता है जैसे टाउन राशनिंग आफ़िसर के लिए केवल टी० आर० ओ०, चीफ़ मिनिस्टर के लिये सी० एम्०, वाइस चांसलर के लिये वी० सी०, नेशनल कैडेट कार्प्स के लिए एन० सी० सी० आदि। इसी प्रकार लम्बे लम्बे शब्दों को लघुतम रूप में प्रयोग करने की प्रवृत्ति सभी भाषाओं में व्यापक मिलती है। व्यक्तियों के नामों को भी हम इसी प्रकार छोटा करके उनका संबोधन करने लगते हैं। नामों में 'राजरानी' को केवल 'राज' या 'रानी', प्रेमलता को 'प्रेम' या 'लता', इन्दुमती को केवल 'इन्दु' रूप में संबोधित किया जाता है।

कभी कभी भावातिरेक से भी शब्दों की ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। अत्यधिक क्रोध में सहदेव का सहदेउना, रामेश्वर का रमेसरा आदि रूप हो ही जाते हैं। प्रेमाधिक्य के कारण बच्चा का बच्चू, भाई का भइया, बांह का बहियां हो जाना स्वाभाविक है। अतएव यह कहा जा सकता है कि भाषा का ध्वनि-परिवर्तन मनुष्य की प्रयत्न-लाघव की प्रवृत्ति का परिणाम है।

ध्वनि–नियम

भाषा में ध्वनि-परिवर्तन तभी होता है जब कि उस भाषा के एक व्यक्ति में नहीं वरन् उसके सभी लोगों में वैसा ही परिवर्तन करने की समान प्रवृत्ति पाई जाती है। कोई अकेला व्यक्ति भाषा में परिवर्तन नहीं कर सकता। भाषा-परिवर्तन का यह स्वरूप देश और काल के अनुसार बदलता रहता है फिर भी ध्वनि-परिवर्तन में एक विशेष बात हम यह देखते हैं कि किसी विशेष काल और विशेष स्थान की भाषाओं में परिवर्तन प्रायः समान दिशाओं में हुआ है। इससे किसी विशेष स्थान और समय की भाषा के बोलने वालों में समान प्रवृत्ति का बोध होता है। ध्वनि का यह परिवर्तन परोक्ष रूप में होते हुए भी निश्चित होता है। परिवर्तन के इसी नियमित ढंग को ध्वनि-नियम के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

ध्वनि-नियम विशुद्ध वैज्ञानिक नियमों से भिन्न होता है। इसका क्षेत्र सीमित होता है। वैज्ञानिक नियम सभी कालों और देशों में समान रूप से घटित होते हैं किन्तु ध्वनि-नियम किसी स्थान और काल की भाषा विशेष पर ही लागू किये जा सकते हैं। ध्वनि का परिवर्तन हो जाने के उपरान्त ही किसी भाषा के ध्वनि-नियम का निर्धारण संभव होता है किन्तु वैज्ञानिक नियमों के लिये ऐसी कोई सीमा निश्चित नहीं होती। यह अवश्य है कि ध्वनि-नियम से किसी भाषा की प्राचीन परंपरा का बोध हो जाता है। भाषाओं में ऐतिहासिक संबंध जोड़ने में ध्वनि-नियम सहायक सिद्ध हुये हैं। कभी कभी अन्य सूत्रों से भाषाओं में ऐतिहासिक संबंध का निश्चय होता है और उनमें ध्वनि-नियम घटित नहीं हो पाते। इसका कारण भाषाओं में सादृश्य (analogy) का प्रभाव माना गया है। आधुनिक भाषाविज्ञानी इस बात को नहीं मानता कि ध्वनि-नियमों में अपवाद होते हैं। क्योंकि उन अपवादों का समाधान भाषा पर वाह्य प्रभावों के निराकरण से कर लिया

जाता है। भाषाएं सभी कालों और देशों में दूसरी भाषाओं के संपर्क में आती हैं। अतः उनमें पारस्परिक प्रभाव स्वाभाविक ही है। प्राचीन जर्मन भाषा का संबंध आदिम भारोपीय से जोड़ने के लिये याकोब ग्रिम ने एक ध्वनि-नियम का आविष्कार किया जिसे उसी के नाम पर ग्रिम-नियम कहा जाता है। इस नियम के अनुसार आदिम आर्य शब्दों के वर्ण क् त्, प् 7 प्राचीन जर्मन भाषा में क्रमशः ख (ह). थ, फ् ; ग्, द्, ब्, 7 क्रमशः क्, त्, प और घ्, ध्, भ 7 क्रमशः ग्, द्, ब हो जाते हैं। आदिम आर्य का व्यंजन-समूह संस्कृत भाषा में सुरक्षित रहता है। अतएव उक्त परिवर्तन संस्कृत भाषा पर भी घटित होता है। जैसे *करद् 7 गॉथी हैर्तो, अंग्रेंजी हार्ट्, *त्रेयेस् 7 सं० त्रि, गॉथी थ्रीस, अंग्रेजी-थ्री , *पोद् 7 सं० पाद्, गॉथी फोटुस, अंग्रेजी फुट, *देक् 7 सं० दश, गॉथी तेहुन्, अग्रेजी टेन् । *घन्स् 7 सं० हंस, गॉथी गन्स्, अंग्रेजी गूज़, *भेरो-7 सं० भरामि, गॉथी बैरान्, अंग्रेजी बेयर् आदि।

ग्रिम-नियम में कुछ अपवाद भी थे। जैसे आदिम आर्य ब, द गॉथी में क्रमशः ब, द ही मिलते हैं, प, त नहीं, इसका समाधान हर्मन ग्रासमैन ने किया। उसने यह स्थिर किया कि आदिम भाषा की एक स्थिति में मूल शब्दों के आदि और अंत में दो महाप्राण ध्वनियां प्रयुक्त होती थीं तथा दूसरी स्थिति में दो महाप्राण ध्वनियों में से एक को अल्पप्राण कर दिया गया। इस प्रकार आदिम आर्य *भेउध7 सं० बोध, गॉथी बिउद,; *भेन्ध्, 7 सं० बन्ध्, गॉथी बिन्दान, *धोम 7सं० दभ, गॉथी दाब्स रूप नियमित हैं। संस्कृत और गॉथी में आदिम भाषा की महाप्राण ध्वनियां अल्पप्राण हो गई हैं। कुछ उदाहरणों में ग्रिम-नियम के अनुसार क, त्, प् वर्ण गॉथी में ख (ह), थ्, फ् न मिलकर ग्, द्, ब् मिलते हैं। यह अपवाद कार्ल वर्नर के द्वारा स्पष्ट किया गया। इसलिये इसे वर्नर-नियम के नाम से कहा जाता

है। उसने यह बताया कि आदिम भाषा के शब्दों के शुरू में क, त, प होंगे तो वे ग्रिम-नियम के अनुसार क्रमशः ख (ह), थ, फ होंगे किन्तु मध्य या अंत में बाद के अक्षर पर सुर होने से परिवर्तन उक्त रूप में न होकर ग्, द्, ब्, के रूप में होंगे। जैसे *कमृतोम् 7 गॉथी हुन्द, *सेप्तन् 7 गाथी सिबुन (अंग्रेजी सेवेन) आदि। यहां सुर बाद वाले अक्षर पर न होकर पहले अक्षर पर है।

इसी प्रकार का एक तालव्यीकरण नियम (law of palatalisation) है। इसके द्वारा संस्कृत का संबंध आदिम आर्य से जोड़ा गया है। इसके अनुसार जब आदिम भाषा के कण्ठ्य वर्णो के बाद इ या ए स्वर हों तो वे वर्ण तालव्य वर्ण में बदल जायेंगे। जैसे *क्वे 7 सं० च, *ग्वीवोस् 7सं० जीवः *ध्वेन्ति 7ई० घन्ति, सं० हन्ति आदि।

भारतीय भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत के साथ हिन्दी, बंगला आदि के पारस्परिक संबंधों को स्पष्ट करने के लिये ऐसे अनेक ध्वनि-नियमों की अवतारणा की जा सकती है। सं० 'न' व्यंजन प्राकृत में सर्वत्र 'ण' रूप में मिलता है। सं० 'य' वर्ण अधिकांश प्राकृतों में 'ज' मिलेगा। संस्कृत-शब्दों के आदि में प्रयुक्त 'प' प्राकृत में सर्वत्र तथा आधुनिक भाषाओं में भी प्रायः 'प' ही रहता है। इसे भारतीय आर्य भाषाओं के विकास के संबंध में ध्वनि-नियम के रूप में माना जा सकता है।

(ख) पद-विकास

ध्वनियों का संयोजन 'शब्द' तथा पदों का संयोजन 'वाक्य' के रूप में प्रकट होता है। शब्द से जब व्याकरणिक अर्थ का भी बोध होता ह तो उसे 'पद' की संज्ञा दी जाती है। संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने 'सुप्तिङ्न्तं पदम्' सूत्र से पद की परिभाषा स्पष्ट की है। संस्कृत में सुप् और तिङ्न्त क्रमशः संज्ञा, सर्वनाम आदि और क्रिया के विकास में जुड़ने वाली विभक्तियों के सूत्र-नाम हैं। पद में व्याकरणिक अर्थ प्रकट करने की क्षमता होती है किन्तु स्वतन्त्र शब्द केवल स ामान्य या विशष अर्थ को ही व्यक्त करता है। वाक्य में प्रयुक्त होने पर शब्द की विशेष स्थिति हो जाती है। प्राचीन आर्य भाषाओं में संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि शब्दों के साथ विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग होता था। इन भाषाओं के वाक्यों में विभक्तियों के योग के बिना शब्दों का प्रयोग संभव नहीं था। आधुनिक आर्य भाषाओं में प्रायः विभक्तिरहित शब्द वाक्य में व्यवहृत होते हैं। किन्तु शब्द के व्याकरणिक अर्थ को प्रकट करने के लिये व्याकरण संबंधी अन्य रूपों-शब्द-क्रम, कारक-चिह्न आदि का व्यवहार आवश्यक होता है। अतः यह स्पष्ट है कि वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के परस्पर संबंध को व्यक्त करने के लिये व्याकरणिक रूपों का प्रयोग आवश्यक है।

भाषा-शास्त्रियों का अनुमान है कि आरंभिक अवस्था में शब्दों का आज जैसा कोई व्याकरणिक विभाजन नहीं था। प्रयोग की सुविधा के कारण शनैः शनैः शब्दों के अलग अलग रूप स्थिर होते गये और उनका बिभाजन संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया आदि रूपों में किया गया। यूनान के प्राचीन वैयाकरणों ने शब्दों के ऐसे दस विभाजन किये हैं। यूरोप में शब्दों का व्याकरणिक विभाजन सर्वप्रथम यूनान में हुआ। तदुपरान्त रोम, आर्मीनिया, अरब आदि देशों में यह विभाजन व्यापक बन

गया। इनमें यूनान इस दृष्टि मे अग्रणी है। भारतीय वैयाकरणों ने शब्द का विभाजन नाम (सुबन्त) और आख्यात (तिङन्त), उपसर्ग और निपात रूपों में किया था। सुबन्त के अन्तर्गत संज्ञा, सर्वनाम के रूप दिए गए हैं और तिङ्न्त के अन्तर्गत क्रिया-रूपों का वर्णन किया गया है। विशेषण, क्रिया-विशेषण क्रमशः इन दो प्रधान भेदों से ही संबंधित हैं। उपसर्ग के अन्तर्गत विभक्ति, कारक-चिह्न आदि तथा निपात के अन्तर्गत अव्यय की गणना की गई। शब्द का यह व्याकरणिक विभाजन यास्क, पाणिनि, पतञ्जलि, भर्तृहरि आदि प्राचीन भारतीय विद्वानों के द्वारा विशद रूप प्रस्तुत किया गया है।

शब्द का व्याकरणिक विभाजन

आधुनिक काल में यूरोपीय और भारतीय वैयाकरणों के शब्द-विभाजन में कोई विशेष अन्तर नहीं पाया जाता। इनका विभाजन आठ रूपों में मिलता है—संज्ञा (noun), सर्वनाम (pronoun), विशेषण (adjective), क्रिया (verb), क्रिया विशेषण (adverb), विस्मयादिबोधक अव्यय (interjections), समुच्चयादिबोधक अव्यय (conjunctions), परसग (postposition), किन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से शब्दों के इन आठ रूपों की निश्चयात्मकता के संबंध में संदेह प्रकट किया गया है। व्याकरणिक दृष्टि से विस्मयादि-बोधक अव्यय का पद-रूप में विभाजन युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। ये शब्द मनोभावों की आकस्मिक अभिव्यक्ति के परिणाम कहे जा सकते हैं। ओह! आह! हाय! छिः! धत्! भयंकर! चमत्कार! आदि ऐसे ही शब्द हैं। ये शब्द हृदय के शोक, दुःख, सुख, प्रसन्नता आदि भावों की तीव्रता को व्यक्त करते हैं। इनमें प्रभावात्मकता का गुण ही विशेष होता है। वाक्य में इनका अस्तित्व अलग ही होता है। इन शब्दों के लिये वाक्य के अन्य शब्दों की अपेक्षा नहीं होती। कभी कभी

ठहरो ! खून ! चुप ! सांप ! क्या ! आदि शब्दों का प्रयोग आकस्मिक मनोभावों को प्रकट करने के लिये किया जाता है। लेकिन ऐसे शब्दों की गणना संज्ञा, क्रिया आदि के रूपों की जा सकती है।

शब्दों के अन्य विभाजन संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण में भी विभेद की रेखा बहुत स्पष्ट नहीं है। सर्वनाम सज्ञा के पूरक होते हैं। सर्वनाम का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। वे एक प्रकार से सम्बन्ध-रूप को प्रकट करते हैं। पुरुषवाचक सर्वनाम मैं, हम, तू, तुम, वह, वे आदि का प्रयोग वाक्य में व्यक्तिवाचक रूप को प्रकट करने के लिये होता है। सर्वनामों का सम्बन्ध क्रिया से भी जोड़ा गया है। क्रिया और सर्वनाम में पुरुष-भेद और वचन-भेद की समानता मिलती ही है। कुछ भाषाओं में क्रिया के द्विवचन के साथ साथ सर्वनाम में भी द्विवचन मिलते हैं। इस प्रकार सर्वनाम संज्ञा का पूरक होने के साथ क्रिया से सम्बन्धित तथा प्रभावित रहता है। अतः यह एक स्वतन्त्र व्याकरणिक विभाजन के रूप में स्वीकार न किया जाय, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। इसी प्रकार संज्ञा और विशेषण में भी कोई तात्विक भेद नहीं माना जाता। यूनानी वैयाकरण थ्रैक्स ने शब्दों के दस विभाजन में विशेषण को संज्ञा से भिन्न नहीं माना। विशेषण संज्ञा पर आधारित माना गया है। यह संज्ञा के गुण विशेष से सम्बन्धित है।

प्रारम्भिक शब्द व्याख्यात्मक और गुणवाची थे और वे ही बाद में संज्ञा के लिये सीमित हो गये। संस्कृत गो, नेत्र, रदन, सर्प आदि ऐसे ही शब्द हैं। 'नेत्र' का अर्थ प्रकाशित करने वाला, 'गो' का अर्थ चलने वाला, 'रदन' का अर्थ फाड़ने वाला और 'सर्प' का रेंगने वाला था जो प्रायः गुण विशेष के ही बोधक थे। बाद में वे प्राणी विशेष, वस्तु विशेष आदि के लिए सीमित हो गये। भाववाचक संज्ञाएँ विशेषणों पर आधारित हैं। जैसे सत्य से सत्यता, अच्छा से अच्छाई, सुन्दर से सुन्दरता आदि। कभी

कभी विशेषण से ही संज्ञा का बोध कराया जाता है। जैसे अच्छों को भी बुलाओ और बुरों को भी, टूटे टूटे अलग कर दो आदि। इनमें अच्छे बुरे, टूटे विशेषण के रूप में प्रयुक्त न होकर संज्ञा के रूप में हुए हैं। चीनी परिवार की भाषाओं में सुर-भेद से एक शब्द संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण अथवा क्रिया होता ही है। कुछ विद्वानों के मतानुसार प्रारम्भिक अवस्था में शब्द गुण-बोधक अधिक थे और संज्ञा-रूपों का विकास उन्हीं के आधार पर हुआ। क्रिया-विशेषण (adverb) भी विशेषण पर आधारित है। विशेषण क्रिया से सम्बन्धित होने पर इस रूप में प्रकट होते हैं। जैसे ऊँचे उठो, बड़े बनो, धीरे धीरे चलो, जल्दी आओ, नज़दीक बैठो आदि में क्रिया के साथ क्रिया-विशेषणों का व्यवहार हुआ है जो क्रिया की विशेषता को ही प्रकट करते हैं। इसी प्रकार समुच्चयादि-बोधक अव्यय भी केवल सम्बन्ध-रूप को ही प्रकट करते हैं। वे वाक्य में अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते, शब्दों में अथवा वाक्य-खंडों में परस्पर सम्बन्ध का बोध कराते हैं। अतः इन्हें व्याकरण के एक स्वतन्त्र विभाजन के रूप में मानना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। यथा-और, अथवा, कि, जैसे आदि शब्दों के द्वारा इस सम्बन्ध को दिखाया जाता है। भारतीय भाषाओं में परसर्गों (postpositions) अथवा यूरोपीय भाषाओं में प्रिपोजिशन (preposition) का प्रयोग वाक्य में संज्ञा आदि का क्रिया से अथवा संज्ञा आदि रूपों में परस्पर सम्बन्ध दिखाने के लिये होता है। इनका भी वाक्य में कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। अतएव इन्हें भी व्याकरण का एक पृथक विभाजन मान लेना कुछ लोगों की दृष्टि में समीचीन नहीं है। अंग्रेजी तथा फ़्रेंच आदि भाषाओं में आर्टिकिल् (article) जैसे ए (a), ऐन् (an), द (the) (अंग्रेजी), ल (le), ला (la) (फ़्रेंच) की स्थिति भी ऐसी ही है। भारतीय भाषाओं में प्रत्यय, उपसर्ग को कोई स्वतन्त्र शब्द-विभाजन के अन्तर्गत नहीं रखा जाता।

अन्त में शब्दों के व्याकरणिक विभाजन में केवल संज्ञा और क्रिया ये दो मुख्य भेद शेष रह जाते हैं। पहले कहा जा चुका है कि संस्कृत में सुबन्त् और तिङन्त् की विभक्तियां अलग अलग होती हैं। किन्तु कई भाषाओं में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब एक ही शब्द संज्ञा और क्रिया दोनों होता है। मलाया-पोलीनेशी की भाषा जावानी में 'तुरु' (turu) शब्द 'शयन' (sleep) और 'सोना' (to sleep), फ़ीज़ी (Fizi) में मते' (mate) शब्द मृत्यु और मरना, समोई (Samoan) में 'ओफ़ु' (ofu) शब्द वेश-भूषा और पहनना अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। चीनी भाषा में भी संज्ञा और क्रिया में अन्तर शब्द-क्रम और सुर-भेद से जाना जाता है। जैसे लओ लओ (lao lao) का अर्थ बुड्ढों का बुड्ढों की तरह व्यवहार करना, येओ येओ (yeo yeo) का अर्थ बालकों का बालकों के समान व्यवहार करना होता है। इसमें शब्द-क्रम की विशेषता है। एक शब्द संज्ञा है और दूसरा क्रिया। हओ (hao) शब्द का अर्थ एक सुर से उच्चारण होने पर 'अच्छा' और दूसरे उच्चारण से 'प्रेम करना' होता है। त्साङ् (tsang) शब्द का अर्थ एक सुर से 'कोष' और दूसरे सुर से 'छिपाना' होता है। अंग्रेजी में भी उच्चारण-भेद से एक ही शब्द संज्ञा और क्रिया होता है। जैसे 'कन्डक्ट' का अर्थ 'आचरण' और 'आचरण करना' दोनों होता है। तुम गाना गाना, तुम खाना खाना (हिन्दी)। इन वाक्यों में गाना, खाना संज्ञा भी हैं और क्रिया भी। क्रियाओं से संज्ञाएँ बना ली जाती हैं और संज्ञा से क्रिया बना ली जाती है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। कभी कभी संज्ञा में ही क्रिया का भाव निहित रहता है। यह विशेषता आर्य कुल की भाषाओं में स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। संस्कृत में 'त्वं वरुणः' (तुम वरुण हो), प्राचीन फ़ारसी में 'मना पिता विस्तास्प' (मेरे पिता विस्तास्प हैं)। इनमें क्रिया-शब्द का बोध संज्ञा, सर्वनाम रूप से ही होता है। रूसी भाषा में ज़फ़ट्रक् गॉटॉफ़् (zavtrak gotov) का अर्थ है—कलेवा

(breakfast) तैयार है, डॉम नॉफ़् (dom nov) अर्थात् घर नया है। इसमें क्रिया-शब्द का अभाव है। चीनी भाषा में 'त कुओक्' (ta kuok) अर्थात् बड़ा राज्य और शब्द-क्रम बदल देने पर कुओक् त् (kuok ta) का अर्थ है —राज्य बडा है । इसमें क्रिया-पद का अभाव है। ऐसे उदाहरणों को संज्ञात्मक वाक्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है ।

प्राचीन भाषाओं में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें क्रिया संज्ञा, सर्वनाम से प्रभावित होकर, विशेषण-रूप में व्यवहृत होती है । पुरानी स्यामी में 'परे निचि' का अर्थ है--वह गिर पड़ा । इसमें विशेषण से प्रभावित क्रिया-रूप की प्रधानता है। लौकिक संस्कृत में तिड़न्त् रूपों के स्थान पर कृदन्त-रूपों का व्यवहार अपनाया गया । वर्तमान-कालिक कृदंत (present participle) के लिये शतृ, शानच तथा भूतकालिक कृदत (past participle) के लिये-क्त, क्तवत् तथा, कुछ भिन्न प्रयोगों में तुमुन् प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है। कृदन्त-रूप संज्ञा, विशेषण से प्रभावित रूप होते हैं। सः गतः (वह गया), ते गताः (वे गये), सा गता (वह गई) आदि तिङन्त रूपों के स्थान पर कृदन्त-रूप इतने प्रचलित हुए कि मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं पालि, प्राकृत तथा आधुनिक आर्य भाषाओं में मुख्य क्रिया प्रायः कृदन्त-रूप में ही व्यवहृत होने लगी। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि सज्ञा और क्रिया में कोई मौलिक भेद नहीं है । अतएव संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया आदि शब्दों का व्याकरणिक विभाजन स्वाभाविक होते हुए भी तर्क तथा विज्ञान की कसौटी पर पूर्ण स्थिर नहीं जान पड़ता ।

व्याकरणिक तत्त्व

भाषा का गठन व्याकरणिक तत्त्वों पर आधारित होता है। संस्कृत में इसे 'प्रत्यय' का नाम दिया गया है । संस्कृत में 'प्रकृति' से शब्द के

अर्थ-तत्त्व का और 'प्रत्यय' से संबंध-तत्त्व का बोध होता है। 'पद' अथवा 'वाक्य का विश्लेषण इस प्रकार प्रकृति और प्रत्यय रूप में संभव होता है। प्रकृति (fundamental element) से किसी वस्तु, भाव, विचार, स्थान, व्यक्ति आदि का संकेत मिलता है और प्रत्यय (modifying element) प्रकृति के विविध रूपों में परस्पर संबंध के भावों को प्रकट करता है। प्रकृति अथवा अर्थ तत्त्व (semanteme) का कोई न कोई अर्थ अवश्य होता है किन्तु उसका व्याकरणिक अर्थ वाक्य मे प्रयुक्त होने पर ही प्रकट होता है। शब्द-रूप में आई हुई प्रकृति वाक्य में व्यवहृत हो सके इसके लिए उसे संबंध तत्त्व (morpheme) से मैत्री करनी पड़ती है। भाषाओं में संबंध तत्त्वों के रूप पृथक पृथक होते है। संबंध तत्त्व कभी अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हुए अर्थ-तत्त्व की सहायता करता है और कभी अपनी सत्ता को अर्थ-तत्व में घुलामिला करके। वैयाकरणों ने संबंध तत्त्व के स्वतंत्र रूप को परसर्ग, संयोजक-अव्यय, प्रिपोजिशन (preposition) आदि और जब वह अर्थ-तत्त्व के साथ जुड़ता है तो उसे प्रत्यय, उपसर्ग, विभक्ति आदि नामों से दिया है।

यूरोपीय तथा अन्य भाषाओं में ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें संबंध-तत्त्व स्वतन्त्र शब्दांश के रूप में व्यवहृत नहीं होता वरन अर्थ-तत्व की ध्वनियों में थोड़ा परिवर्तन कर देने से उसका योग हो जाता है। जैसे अंग्रेजी में मैन् (man) और मेन् (men), फ़ुट् (foot) और फ़ीट् (feet), गूज़ (goose), और गीज (geese), माउस (mouse) और माइस (mice), जर्मन भाषा में वीर गबेन् (wir gaben) हमने दिया, वीर गेबेन् (wir geben) हम देते हैं। अरबी–हिमर (गदहा), हमीर (गधे)यथा किताब, कुतुब, कातिब आदि। हिन्दी में कटना, 'काटना' चलना, चलाना, है, हैं, थी, थीं आदि ऐसे ही उदाहरण हैं। इनमें व्याकरणिक रूप का परिवर्तन ध्वनि-विकास पर

आधारित है। संबंध-तत्व के इस रूप को कुछ भाषावैज्ञानिकों ने शून्य विभक्ति (zero inflection) अथवा मारफ़ोफ़ॉनेमिक् (morpho phonemic) उदाहरण के अन्तर्गत रखा है।

व्याकरणिक भेद को सुर (tone) के द्वारा भी व्यक्त किया जाता है। यूरोपीय, अफ़्रीकी आदि भाषाओं में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। चीनी, जापानी भाषाओं का यह एक प्रमुख व्याकणिक तत्त्व है। अफ़्रीका की फुल भाषा में 'मि वरत' का अर्थ है—मैं मारूँगा या मारता हूँ किन्तु अन्तिम स्वर का दीर्घ उच्चारण करने से अर्थ होगा—मैं नहीं मारूँगा या नहीं मारता हूँ। सुर-भेद से निषेध का बोध होता है। भारोपीय भाषाओं की विभक्तियों में संबोधन (vocative) कापन्न सुर से प्रभावित है। चीनी में त्सि, यु शब्दों के सुरभेद से भिन्न भिन्न अर्थ हो जाते हैं। ये परसर्ग का काम करते हैं और अन्य संज्ञा या क्रिया-अर्थ को भी व्यक्त करते हैं।

संबंध-तत्त्व का एक रूप 'शब्द-क्रम' है। वाक्य में शब्दों के स्थान से ही उनका व्याकरणिक अर्थ प्रकट हो जाता है। चीनी, जापानी में इसका व्यापक प्रयोग मिलता है। चीनी में 'न्गोतनि' का अर्थ है—मैं तुझे मारता हूँ और 'नितन्गो' का अर्थ है—तू मुझे मारता है, 'जिनत'-बड़ा आदमी और 'जिनत'-आदमी बड़ा है। भारतीय भाषाओं में भी ऐसे समास-शब्द मिलते हैं—जैसे राजकवि और कविराज, ऋषिराज और राजर्षि। वाक्य में कर्ता, कर्म आदि का बोध बिना परसर्ग लगाये हुए उनके स्थान से ही व्यक्त हो जाता है।

पहले स्वतंत्र शब्दों के रूप में प्रयुक्त संबंध तत्त्व का उल्लेख हो चुका है। शब्दांश के रूप में व्यवहृत संबंध तत्त्व विभक्ति, प्रत्यय, उपसर्ग आदि होते हैं। प्राचीन भारोपीय भाषाओं में शब्द के अंत में विभक्ति का योग होता था। संस्कृत, ग्रीक आदि भाषाओं में आज वैसे ही

रूप मिलते हैं। √पठ् (पढ़ना) का पठामि, पठसि, पठति में विभक्ति के योग से क्रमशः उत्तम, मध्यम, प्रथम पुरुष को व्यक्त किया गया है। कभी कभी उपसर्ग का भी प्रयोग होता है। जैसे भूतकाल में 'अगमत्' शब्द के मध्य और अन्त में प्रत्ययों का प्रयोग भी संस्कृत की विशेषता है। यथा-प्रेरणार्थक रूप के लिये मध्य प्रत्यय--सं० करोति से कारयति, स्नाति से स्नापयति। आधुनिक आर्य भाषाओं में प्रत्ययों का प्रयोग बहुतायत से होता है। वचन-भेद, लिंग-भेद आदि के विविध रूप प्रत्ययों के योग से ही संभव होते हैं। जैसे पुस्तक, पुस्तकें, लड़का, लड़की, पढ़ेगा, पढ़ेगी। मध्य प्रत्यय का प्रयोग जैसे पढ़ना, पढ़वाना (प्रेरणार्थक), मलायापोलीनेशी (आस्ट्री) भाषाओं में मध्य प्रत्यय योग की मुख्य विशेषता मिलती है। जैसे मुंडारी में मंझि (मुखिया), मपंझि (मुखियों)। अफ्रीका की बाटू भाषा में उपसर्ग का प्रयोग मुख्य विशेषता है। जैसे काफ़िर भाषा में न्तु-मनुष्य, उमुन्तु-एक मनुष्य और अबन्तु-अनेक मनुष्य, कु-को (संप्रदान कारक), कुति-हमको, कुनि-उनको, कुजे-उसको। द्राविड़ तथा उराल-अल्ताई समुदाय की भाषाओं में शब्द के अन्त में प्रत्यय जोड़कर व्याकरणिक रूप बनाने की मुख्य विशेषता मिलती है।

विभिन्न भाषा-समुदायों में ऊपर गिनाये हुए संबंध तत्त्वों में कोई एक ही प्रकार का संबंध तत्त्व प्रयुक्त होता हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक ही समुदाय की भाषा में उपसर्ग और प्रत्यय अथवा प्रत्यय और विभक्ति दोनों के योग की विशेषता मिल सकती है। भाषाओं के गठन से स्पष्ट होता है कि उनमें अर्थतत्त्व और संबंध तत्त्व का योग विभिन्न प्रकार से हुआ है। कुछ भाषाओं में दोनों तत्त्व अपना अस्तित्व पृथक रखते हैं, कुछ में संबंधतत्त्व के योग से अर्थतत्त्व में परिवर्तन हो जाता है और कुछ में इस प्रकार से योग होता है कि दोनों अंशों को पृथक करना केवल उस भाषा के विशेषज्ञों के द्वारा ही संभव होता है। अमेरीका की भाषाएँ तीसरे प्रकार की हैं। इसमें प्रकृति और प्रत्यय

प्रश्लिष्ट रूप ले लेते हैं । भाषा के इसी गठन के आधार पर उसका वर्गीकरण विभिन्न समुदाय, समूह, शाखा, परिवार आदि रूपों में संभव हो सकता है । एक ही व्याकरणिक सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए कभी कभी सम्बन्ध तत्त्व के किसी एक प्रकार के कई रूपान्तर भी देखे जाते हैं । इन रूपान्तरों में जो बहु प्रचलित होता है उसे प्रमुखता देकर उनके रूपान्तरों को हम उस प्रमुख रूप के एलोमार्फ (allomorphs) कह सकते हैं । जैसे हिन्दी का स्त्रीलिंग प्रत्यय-ई बहुप्रचलित है, उसके अतिरिक्त-आइन, आ आदि भी हैं । अतएव -आइन,-आ आदि को स्त्रीलिंग –ई प्रत्यय का एलोमार्फ (allomorph) कहेंगे ।

व्याकरणिक धाराएँ

भाषा में व्याकरणिक रूपों का विकास शनैः शनैः हुआ यह एक मान्य मत है । मनुष्य की विचारधारा सदैव एक सी नहीं रहती । वह अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार मस्तिष्क के सहारे नये नये रूपों का विकास करता रहा है । संज्ञा का प्रयोग लिंग, वचन, कारक (विभक्ति) के अनुसार तथा क्रिया का प्रयोग लिंग, वचन, पुरुष, काल, वाच्य, अर्थ (moods) के अनुसार होता है । इसके समुचित विकास में काफी समय लगा होगा । इसका प्रारंभिक रूप ऐसा न रहा होगा यह तो निश्चित है । भाषा में पदों के द्वारा व्यक्त इन व्याकरणिक धाराओं का प्रयोग प्रारंभ में नैसर्गिक ढंग से होता रहा होगा, वह अधिक तर्कसंगत तथा युक्तिसंगत होगा किन्तु बाद में वह एक व्याकरणिक प्रयोग के रूप में स्थिर हो गया, ऐसा कहा जा सकता है ।

लिंग–भेद

भाषा में लिंग-भेद के अनुसार शब्दों का विभाजन सभी भाषाओं की विशेषता है । उन्नत भाषाओं में यह रूप अधिक विकसित है और

अपेक्षाकृत कम उन्नत भाषाओं में यह उतना विकसित नहीं मिलता। सांसारिक अनुभव से ज्ञात होता है कि चेतन और अचेतन दो मुख्य भेद हैं। चेतन में भी पुरुष और स्त्री-दो मुख्य वर्ग हैं। इस आधार पर पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग ये तीन भेद स्वाभाविक कहे जा सकते हैं। किन्तु इनसे सदैव क्रमशः पुरुष, स्त्री और अचेतन पदार्थ का ही बोध होता हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। भारोपीय भाषाओं-संस्कृत, फ्रेंच, अंग्रेजी आदि में ऐसा कोई नैसर्गिक प्रयोग नहीं पाया जाता। संस्कृत में 'दारा' 'कलत्र' शब्द स्त्री के अर्थ में होते हुये क्रमशः पुलिंग और नपुंसकलिंग में व्यवहृत हुए हैं। 'देवता' शब्द संस्कृत में स्त्रीलिंग है किन्तु उससे पुरुष का बोध होता है। नपुंसक लिंग में 'वारि' जल का पर्याय है। इसी प्रकार 'अपः' शब्द अचेतन जल पदार्थ के लिये होते हुये स्त्रीलिंग में मिलता है। कतिपय आधुनिक आर्य भाषाओं को छोड़ कर प्रायः सभी में सारे अचेतन पदार्थ पुलिग और स्त्रीलिंग के अन्तर्गत रखे जाते है। नपुन्सक लिंग का लोप ही हो गया। अचेतन पदार्थ सम्बन्धी शब्दों को उनके गुण एवं व्याकरणिक रूप के आधार पर पुलिंग के अन्तर्गत रख दिया गया है। इस कारण भाषाओं में लिंग-प्रयोग में समानता नहीं पाई जाती। एक ही शब्द एक भाषा में पुलिंग है और दूसरी भाषा में स्त्रीलिंग। फ्रेंच में एक ही शब्द आर्टिकिल (article) के भेद से पुलिंग अथवा स्त्रीलिंग में व्यवहृत होता है। जैसे ल लीव्र (le livre) पुस्तक, ला लीव्र (la livre) पौंड। पहला पुलिंग और दूसरा स्त्रीलिंग है, ला ताब्ल (la table) मेज, ला शैज (la chaise) कुर्सी स्त्रीलिंग हैं।

शब्दों के अन्त प्रत्यय के अनुसार भी लिंग-निर्णय होता है जैसे प्रोफेट् (prophete-अं० prophet) पाँप, पोप (pape, pope) स्त्रीलिंग है और प्रोफ़ेस्यूर (professeur) पुलिंग है यद्यपि स्वाभाविक रूप से (prophet) और पोप (pope) भी पुलिंग में होने चाहिए। स्त्री-प्रोफेसर के लिये फ्रेंच में 'ला फेम् प्रोफ़ेस्यूर'

(la femme professeur) होगा । इसमें स्त्रीवाची शब्द अलग से जोड़ा गया है । अंग्रेजी में भी पुरुषवाची और स्त्रीवाची सर्वनामों को जोड़ कर लिंग-भेद किया जाता है । जैसे हि गोट् (he goat), शि गोट् (she goat), हि बफैलो (he buffalo,), शि बफ़ैलो (she buffalo) । मुन्डा भाषा में इसी प्रकार शब्दों के योग से लिंग-निर्णय किया जाता है । उदाहरण-आँडिया कूल (बाघ), पु० एंगा कूल (बाघिन) स्त्री० । कभी-कभी हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के सर्वनामों और संज्ञाओं में पुलिंग और स्त्रीलिंग का निर्णय क्रिया में लिंग-भेद करके किया जाता है, जैसे वह पढ़ता है, वह पढ़ती है । क्रिया में लिंग-भेद आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की मुख्य विशेषता है । कुछ वैयाकरणों ने शब्द के अन्य स्वर के अनुसार संस्कृत, ग्रीक, लेटिन आदि भारोपीय भाषाओं में अकारान्त शब्द पुलिंग, आकारान्त तथा ईकारान्त शब्द स्त्रीलिंग माना है । किन्तु इसमें अनेक अपवाद मिलते हैं । एक भाषा के शब्द जब दूसरी भाषा में प्रवेश करते हैं तो उनका लिंग-विपर्यय भी हो जाता है । यह प्रायः उस भाषा के समानार्थी शब्दों के लिंग के अनुसार होता है अथवा कभी यह परिवर्तन स्वतः ही होता है । उदाहरण के लिये 'किताब' शब्द हिन्दी 'पोथी' के अनुकरण पर स्त्रीलिंग में व्यवहृत होता है । इसी प्रकार संस्कृत के पवन, वायु, अग्नि, आत्मा शब्द हिन्दी में स्त्रीलिंग हो गये हैं अतएव यह स्पष्ट है कि भाषा में लिंग का नैसर्गिक प्रयोग न होकर एक व्याकरणिक उपकरण के रूप में हुआ है । लिंग-प्रयोग की इसी अस्थिरता के कारण कुछ लोग इस पक्ष में है कि उसके प्रयोग में एकरूपता लाई जाय ।

वचन-भेद

भाषा में वचन का प्रयोग काफी व्यापक है किन्तु इसका विकास भी नैसर्गिक रूप में नहीं पाया जाता । भाषा की प्रारम्भिक अवस्था

में सम्भव है वचन का स्वाभाविक प्रयोग प्रचलित रहा हो। एक संख्या के लिये एक वचन, दो के लिये द्विवचन, तीन के लिये त्रिवचन अथवा कई के लिये बहुवचन का प्रयोग स्वभाविक माना जा सकता है किन्तु बहुवचन कितनी संख्या के बाद अभिहित हो सकता है यह निश्चित नहीं है। अतएव एक वचन और बहुवचन ही स्वाभाविक और युक्तिसंगत जान पड़ते हैं। भारोपीय प्राचीन भाषाओं में द्विवचन का प्रयोग होता था और इस सम्बन्ध में लोगों का विचार है कि सदैव दो संख्या में ही विचारी या देखी जाने वाली वस्तुओं के लिये द्विवचन का नैसर्गिक प्रयोग शुरू हुआ। जैसे आँख, कान, हाथ, पैर आदि से सदैव दो की संख्या का ही बोध होता है लेकिन बाद में द्विवचन का प्रयोग सभी रूपों के लिये व्यापक हो गया और यह एक व्याकरणिक उपकरण बन गया। दो से अधिक संख्या का बोध बहुवचन से होता था किन्तु बाद में द्विवचन का व्याकरणिक प्रयोग लोगों को अस्वाभाविक जान पड़ा और इसका प्रयोग बन्द हो गया। भारतीय मध्यकालीन आर्य भाषाओं—पालि, प्राकृत आदि में केवल एक वचन और बहु वचन का ही प्रयोग मिलता है। आधुनिक सभी भारोपीय भाषाओं में भी केवल एक वचन और बहु वचन का प्रयोग मिलता है। यूरोप की लिथुएनी भाषा में द्विवचन के कुछ रूप अवशिष्ट मिलते हैं लेकिन उसका भी शनैः शनैः लोप हो रहा है। द्विवचन का प्रयोग बहुवचन का एक विशेष प्रयोग माना जा सकता है और बाद में अनावश्यकता के कारण उसका लोप हो गया।

बहु वचन का रूप दिखाने के लिए अनेक व्याकरणिक उपकरणों का प्रयोग होता है। शब्द के अन्त में कभी प्रत्यय, कभी शब्द के साथ कोई स्वतन्त्र समूहवाची शब्द, कभी उसी शब्द क पुनरुक्ति से बहुवचन को प्रदशित किया जाता है। प्राचीन आर्य भाषाओं में विभक्ति और आधुनिक आर्य भाषाओं में प्रत्यय और विभक्ति द्वारा वहु बचव के रूप बनाये गये

हैं। अंग्रेजी में -s,-es, -en, हिन्दी में-एं, -ओं, -आं, -ई आदि के योग के बहु वचन के रूप बनते हैं। समूहवाची शब्द गण, लोग, अनेक, जन, वृन्द, समूह, सब आदि का योग भी होता है। जैसे बालक गण, मनुष्य लोग, अनेक बात,भक्तजन, मुनिवृन्द आदि। यथा तिब्बती-ब्रह्मी में 'कई' के लिये मए (mae) शब्द जोड़ कर आ बमए (á bamae) पिताओं, नहुअत्ल (अमरीका) में 'कई' के लिए मिक (mick) शब्द जोड़ कर मिक तेत्ल-पत्थरों, अफ्रीका की बुशमैन भाषा मे तु-मुख, तुत्तु-अनेक मुख, जापानी में कुनि-देश, कुनि गुनि-अनेक देश, मलयायी में दूरि-कांटा, दूरि दूरि-कांटें, सुमेरी में कुर्-पर्वत, कुर् कुर्-अनेक पर्वत आदि। अनेक भाषाओं में समूहवाची शब्दों के योग से बने बहुवचन रूप को देखने से यह स्पष्ट होता है कि भाषा में बहुवचन का विकास एक वचन के बाद हुआ और एक वचन के रूपों में धीरे-धीरे विभक्ति, प्रत्यय आदि जोड़ कर बहुवचन रूप बनाने की प्रथा व्यापक हुई।

विभक्ति-प्रयोग

प्राचीन काल में संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि में परस्पर संबन्ध को स्पष्ट करने के लिए भाषा में विभक्ति का विकास किया गया। भाषाओं में विभक्ति के रूप भिन्न प्रकार के मिलते हैं। प्राचीन आर्य भाषाओं में विभक्ति शब्द के अन्त में जुड़ती है और उसके योग से कभी कभी शब्द की प्रकृति में विकार हो जाता है। प्राचीन भारोपीय भाषाओं में आठ विभक्तियां थीं और आधुनिक आर्य भाषाओं में यही विभक्तियां आठ कारकों के रूप में मिलती हैं। अन्तर इतना है कि विभक्ति शब्द की प्रकृति का अंग होती थी और कारक-चिह्न (postposition) शब्द की प्रकृति के साथ अलग से जोड़े जाते हैं। यूरोपीय भाषाओं में ये कारक-चिह्न संज्ञा आदि शब्दों के पूर्व जुड़ते हैं और भारतीय आर्य भाषाओं में ये संज्ञा आदि के बाद लगाये जाते हैं। विभक्ति अथवा कारक-चिह्न के द्वारा संज्ञा, सर्वनाम आदि का संबन्ध

क्रिया के साथ व्यक्त किया जाता है। षष्ठी एवं संबोधन विभक्तियों को इसीलिये विभक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। षष्ठी से संज्ञा, सर्वनाम आदि शब्दों में परस्पर सम्बन्ध का स्पष्टीकरण होता है, क्रिया के साथ उनका सम्बन्ध व्यक्त नहीं हो पाता। संबोधन से केवल आह्वानसूचक रूप का ही बोध होता है।

आधुनिक चीनी भाषाओं में विभक्तियों का प्रयोग नहीं होता। इन्हें शून्य विभक्ति (zero inflection) का उदाहरण माना गया है। किन्तु यह अनुमान किया जाता है कि आदिम अवस्था में चीनी विभक्ति-प्रधान भाषा थी। कालान्तर में यह पूर्ण अयोगात्मक हो गई। पुरानी चीनी में कर्ता रूप में न्गुओ-मैं, न्जीवो–तुम, कर्म में न्ग-मुझको, न्जिअ-तुमको के प्रयोग मिलते हैं, किन्तु आधुनिक चीनी में सुर-भेद से इन सम्बन्धों को प्रकट किया जाता है। विभक्तियों की संख्या भाषा और काल के अनुसार भिन्न भिन्न मिलती है। काकेशी में २३ विभक्तियों का उल्लेख किया गया है। पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन भारोपीय भाषाओं में सात विभक्तियां थीं। संस्कृत तथा यूरोपीय-ग्रीक, लिथुएनी में सात, हित्ती, स्लावी में छः, ट्युटानी, लेटिन में पांच, अल्बानी में चार, आर्मीनी, प्राचीन आयरी में तीन विभक्तियों का प्रयोग मिलता है। शनैः शनैः ध्वनि-परिवर्तन आदि कारणों से विभक्तियुक्त शब्दों में एकरूपता आ गई। विभक्ति-रूपों की इस एक-रूपता के कारण एक ही विभक्ति कई विभक्तियों के लिये समान रूप से प्रयुक्त होने लगी। प्राचीन काल से ही सातों विभक्तियों के प्रयोग विविध रूपों के लिये संपूर्णतया भिन्न नहीं थे। कई रूपों में समानता थी। उदाहरण के लिये संस्कृत के पुंलिग एक वचन में पंचमी, षष्ठी, द्विवचन में तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, बहुवचन में तृतीया-चतुर्थी आदि, नपुंसकलिंग के तीनों वचनों में प्रथमा, द्वितीया के रूप समान पाये जाते हैं। आगे चलकर विभक्तियों की यह समानता और व्यापक हुई।

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-पालि, प्राकृत के पुंलिंग रूप के दोनों वचनों में चतुर्थी, षष्ठी, तृतीया, पंचमी तथा स्त्रीलिंग के एक वचन में तृतीया से सप्तमी तक का एक रूप मिलता है। पहले कहा जा चुका है कि द्विवचन का लोप हो गया। अतएव द्विवचन के सभी रूप बहु-वचन के समान ही व्यवहृत होने लगे।

इस प्रकार विभक्तियों का काफी ह्रास हो गया और आधुनिक आर्य भाषाओं में केवल दो विभक्तियों के रूप अवशिष्ट रह गये। एक था मूल रूप और दूसरा विकारी रूप। फ्रेंच, अंग्रजी, हिन्दी आदि में ये दो रूप ही पाये जाते हैं। हिन्दी में पुत्र, पुत्त शब्द के पूत और पूतों दो अवशिष्ट विभक्ति-रूप हैं। विभक्ति-चिह्नों के घिस जाने के कारण परसर्गों का प्रयोग इन रूपों के साथ होना प्रारम्भ हुआ। इन परसर्गों से ही विभक्ति अथवा कारक के अलग अलग रूपों को प्रकट किया जाने लगा। कारक-चिह्नों को विकारी-रूप एक वचन और बहुवचन दोनों में जोड़कर संज्ञा का क्रिया के साथ अथवा परस्पर एक दूसरे में सम्बन्ध प्रकट किया जाता है। मूल रूप एक वचन तथा बहुवचन में कारक-चिह्न नहीं जुड़ते। कारक-चिह्नों को संपूर्ण शब्दों का अवशिष्ट रूप माना जाता है। ये शब्द वाक्य में व्याकरणिक अर्थ के सम्यक् स्पष्टीकरण के लिये सहायक शब्द के रूप में व्यवहृत होते थे और शनैः शनैः वे ही घिस कर को, ने, से, में आदि रूपों में मिलते हैं। कुछ विद्वानों ने विभक्तियों को भी ऐसे ही सहायक शब्द का अवशिष्ट रूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किन्तु अभी तक यह पूर्णतया सिद्ध नहीं हो पाया है।

क्रिया-भेद

वाक्य में क्रिया का प्रधान स्थान होता है। क्रिया के समुचित प्रयोग एवं उसके द्वारा सूक्ष्मतम भावों का बोध कराने के लिये कुछ

व्याकरणिक धाराओं को क्रिया से सम्वन्धित किया गया है। क्रिया का प्रयोग काल (tense), वाच्य (voice), अर्थ (moods) पुरुष (person), वचन (number), लिंग (gender) के अनुसार किया जाता है। भाषा की प्रारम्भिक अवस्था मे क्रिया का प्रयोग इतने सूक्ष्म और विस्तृत रूप में संभव नही था। क्रिया से संबंधित इन व्याकरणिक विचारधाराओं का विकास धीरे धीरे हुआ होगा। वाक्य में प्रयुक्त क्रिया से काल का भी बोध हो जाता है। किन्तु क्रिया से सदैव निर्दिष्ट काल का ही बोध होता हो यह नहीं कहा जा सकता। क्रिया का गठन वर्तमान काल सम्बन्धी है परन्तु उससे भूत काल अथवा भविष्यकाल का बोध होता है। कुछ भाषाओं में क्रिया से काल का बोध नहीं होता वरन् कार्य-व्यापार के ढंग का पता चलता है। जैसे कार्य पूरा हो गया या नहीं, कितना कार्य हुआ, कितना नहीं आदि। आर्येतर परिवार की अरबी, हिब्रू भाषाएँ इसी प्रकार की हैं। उदाहरण यक़्तुलु—'वह मारेगा' में भविष्य काल का बोध नहीं होता वरन् मारने का कार्य अभी पूरा नहीं हुआ तथा क़तल—'उसने मारा' में भूतकाल का नहीं वरन् मारने का काम पूरा हो गया-इस बात के संकेत किये गये हैं।

भारोपीय भाषाओं में क्रिया से संकेतित काल का कभी बोध होता है और कभी नहीं भी होता। क्रिया और काल में सदैव सामंजस्य नहीं मिलता। संस्कृत, प्राकृत में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें वर्तमान काल की क्रिया से भूतकाल का बोध होता है (सं० भूतार्थे-लट्, अं० historical present)। पुरानी कहानियों में संस्कृत क्रिया 'अस्ति' (है) से 'आसीत्' (था) का बोध होता है। हिन्दी में-मैं पास हो गया तो आगे पढूगा। यहाँ 'गया' शब्द का गठन भूतकाल में है किन्तु उससे भविष्य की बात का बोध होता है। अंग्रेजी में-आइ विश् आइ हैड् मनी (I wish I had money) में 'हैड' शब्द

का रूप भूतकाल का है किन्तु यहाँ इससे वतमान का बोध होता है। वर्तमान काल ही निश्चित और असंदिग्ध है। क्योंकि भूत और भविष्य दो दृष्टि से ओझल रहते हैं। भाषा में भविष्य काल का रूप वर्तमान के रूपों में प्रत्यय अथवा अलग से शब्द जोड़कर बनाया जाता है। संस्कृत में वर्तमान काल पठति (पढ़ता है) में-इष्य प्रत्यय जोड़कर पठिष्यति (पढ़ेगा) भविष्य रूप बनाया गया है। इसी प्रकार भविष्य के अन्य रूप भी वर्तमान पर आधारित हैं। हिन्दी में वर्तमान संभावनार्थ के रूपों में-गा,-गी,-गे,-गें प्रत्यय जोड़कर भविष्य के रूप बनते हैं। जैसे पढ़ेगा, पढ़ेगी, पढ़ोगे, पढ़ेंगें आदि। अंग्रेजी में भी शैल् (shall), शुड् (should), विल् (will), वुड् (would) शब्दों को वर्तमान काल के रूपों में जोड़कर भविष्य के रूप बनाये जाते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि कुछ भाषाओं में क्रिया से केवल कार्य-व्यापार के ढंग का बोध होता है। भारोपीय भाषाओं में क्रिया के काल और अर्थ (mood) दोनों का भाव मिला रहता है। क्रिया से केवल कार्य की पूर्णता, अपूर्णता का ही बोध नहीं होता वरन् निश्चय, संदेह, संभावना, आज्ञा, संकेत आदि भावों की भी अभिव्यक्ति होती है। 'वहां न जाना' में जाना क्रिया से भविष्य काल और आज्ञार्थ (imperative) दोनों का बोध होता है। वह पढ़ता है, उसने पढ़ा, वह पढ़ेगा में क्रिया से क्रमशः वर्तमान, भूत और भविष्य काल के साथ निश्चयार्थ (indicative) का बोध होता है। संस्कृत में कालों का विभाजन दस लकार—लट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिग-विधि, आशीः, लृङ्, लुंग, लिट्, लृट् के रूप में हुआ है किन्तु इनसे केवल विशुद्ध काल का ही बोध नहीं होता। क्रिया-व्यापार के घटित होने के ढंग, भाव अथवा अर्थ भी इसमें सन्निहित हैं। केवल संस्कृत एवं हिन्दी में ही अर्थ (moods) और काल (tense) का सामंजस्य नहीं मिलता वरन् भारोपीय भाषाओं की यह एक सामान्य विशेषता कही जा सकती है।

संयुक्त क्रिया (compound verbs) का विकास आधुनिक भाषाओं की महत्वपूर्ण विशेषता है। भाषा में कृदंत (participles) और सहायक क्रिया (auxiliary verbs) के योग से इनका विकास होता है संयुक्त क्रिया से कुछ विशेष भावों का भी बोध होता है। विशेष विशेष भावों के लिये कुछ शब्द रूढ़ि हो गये हैं और संयुक्त क्रिया के रूप में उन शब्दों के योग से उन भावों का बोध कराया जाता है। उदाहरण के लिये काम होने लगा में 'लगा' शब्द से आरंभ-बोधक भाव, करना पड़ता है-में 'पड़ता' से विवशता का भाव, चला नहीं जाता-में 'जाता' से असमर्थता का भाव, गिन रहा हूं-में 'रहा' से निरन्तरता का भाव, पढ़ने दो-में 'दो' से अनुमति का भाव, जाना चाहता है-में 'चाहता' से इच्छा का भाव, वह कर बैठा-में 'बैठा' से तात्कालिक भाव, पढ़ चुका-में 'चुका' से समाप्ति के भाव का बोध होता है। इनमें जाता, रहा, दो, बैठा आदि शब्द अपने मूल अर्थ को छोड़कर विशेष अर्थ को प्रकट करते हैं। संयुक्त क्रिया के मूल में यही भावना मुख्य है। दो क्रियाओं के योग से इनका विकास होता है। किन्तु इनसे एक ही क्रिया-भाव का बोध होना चाहिये। संयुक्त क्रिया में दोनों क्रियाओं के पृथक अर्थ यदि सुरक्षित रहेंगे तो फिर उसे संयुक्त क्रिया की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह कहा जा सकता है कि संस्कृत तथा अन्य भारोपीय भाषाओं में क्रिया के तिङन्त् रूप का प्रयोग जब कम हो गया और कृदन्त का व्यवहार अधिक होने लगा तो क्रिया द्वारा व्यक्त भाव में अस्पष्टता आ गई और इसलिये क्रिया के भाव को और स्पष्ट बनाने के लिये संयुक्त क्रिया का विकास किया गया। इस प्रकार आधुनिक आर्य भाषाओं में संयुक्त क्रिया के विकास को एक नई व्याकरणिक धारा के रूप में माना जा सकता है।

वाच्य-भेद

क्रिया के रूपों का विकास वाच्य (voice) के भेद पर भी आधा-

रित है। कार्य-व्यापार किसके द्वारा, किसके लिये एवं किस लिये घटित होता है-इसे वाच्य के द्वारा व्यक्त किया जाता है । प्राचीन भारोपीय भाषा में केवल कर्तृ वाच्य और भाव वाच्य थे । कर्म वाच्य का विकास बाद में किया गया। कर्तृ वाच्य में कर्ता, कर्मवाच्य में कर्म और भाव वाच्य में क्रिया की प्रधानता रहती है। यथा-मैं चलता हूं—कर्तृ वाच्य, तुम मुझ को पढ़ाते हो—कर्म वाच्य, मुझसे चला नहीं जाता—भाव वाच्य। क्रिया के इसी आधार पर क्रमशः कर्तरि, कर्मणि और भावे प्रयोग मिलते हैं। कर्तरि में क्रिया कर्ता के अनुसार, कर्मणि में कर्म के अनुसार प्रयुक्त होती है। कर्ता, कर्म का जो लिंग, वचन पुरुष होगा वहीं क्रिया का भी होगा। कर्तृ वाच्य में क्रिया सकर्मक और अकर्मक, कर्म वाच्य में क्रिया केवल सकर्मक और भाव वाच्य में केवल अकर्मक होती है।

प्रेरणार्यक रूप

क्रिया के द्वारा व्यक्त व्याकरणिक विचारधारा का एक अन्य ढंग प्रेरणार्थक रूपों (causals) का है । कार्य-व्यापार कर्ता के द्वारा स्वतः घटित होता है अथवा वह किसी दूसरे के द्वारा वैसा करने के लिये बाध्य किया जाता है—ये दो अलग अलग रूप हैं। भारोपीय भाषाओं के आरंभिक काल से प्रेरणार्थक रूप का प्रयोग मिलता है । संस्कृत में-अप अथवा-आपय प्रत्यय के योग से इसका रूप बनाया जाता है। यथा—'करोति' (करता है), 'कारयति' (करवाताहै),'ददाति' (देता है), 'दापयति' (दिलवाता है)। हिन्दी में -आ अथवा -वा के योग से प्रेरणार्थक रूप बनाये जाते हैं। उदाहरण चलना, चलाना, चलवाना, अंग्रेज़ी में कॉज़ (cause) अथवा मेक् (make) शब्दों के योग से प्रेरणाथक रूप बनते हैं। जैसे I make him to read, I made him to go आदि।

संस्कृत में क्रिया-धातुओं को दस गणों में बांटा गया है। प्रत्येक

गण की धातुओं को पद-रूप बनाने के लिये अन्त में विभक्ति के जुड़ने के अतिरिक्त कुछ प्रत्यय (विकरण) भी जुड़ते हैं । विभिन्न धातुओं के विकास में विचार-धारा की कुछ भिन्नता अवश्य रही होगी अन्यथा पृथक पृथक रूपों में उनके विकास का कोई कारण नहीं था । संस्कृत में क्रिया का विकास परस्मै और आत्मने-दो पदों में मिलता है । कुछ धातुएँ परस्मै पद, कुछ आत्मने पद और कुछ उभय पद में विकसित हुईं । आत्मने में क्रिया का फल कर्ता और परस्मै में अन्य पर गिरता है । पदों का यह विभाजन व्याकरणिक भाव-धारा की स्पष्टता के लिये किया गया होगा । किन्तु बाद के लोगों को इसकी आवश्यकता नहीं जान पड़ी और शनैः शनैः इसका लोप हो गया ।

वाक्य अथवा पद में निषेध (negation) की भावना के लिये कई रूपों का प्रयोग मिलता है । स्वतन्त्र (प्रातिपदिक) शब्द, उपसर्ग आदि की सहायता से इसे प्रकट किया जाता है । अंग्रेजी में नो (no), नॉट (not), हिन्दी में न, नहीं आदि शब्दों को जोड़कर अथवा उपसर्गों के योग से इस भावना को प्रकट किया जाता है । अंग्रेजी में जैसे हैपी (happy), अनहैपी (unhappy), ह्यूमन (human), इन्ह्यूमन (inhuman), हिन्दी में जैसे आवश्यकता, अनावश्यकता, हिन्दी, अहिन्दी । कभी कभी वाक्य का सुर-भेद से ही निषेध का बोध हो जाता है । जैसे क्या मैं जा रहा हूँ ! भाव होगा कि मैं नहीं जा रहा हूँ । शब्दों के द्वित्व (reduplication) रूप के द्वारा भी पदों का विकास मिलता है । संस्कृत में √ दा—देना का भूतकाल में-ददुः (दिया), वर्तमान में देदीयते (देता है), बुबोध, चकार, जुहोति आदि पद इसी प्रकार निर्मित हुए हैं । शब्दों की पुनरावृत्ति से संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया–विशेषण, विस्मयादिबोधक आदि विशेष भावों को प्रदर्शित किया जाता है । शब्दों की आवृत्ति कभी पूर्ण और कभी अपूर्ण होती है ।

संज्ञा के अन्तर्गत जैसे रोम रोम फड़कना से अतिशता, फूल फूल बिनना से एकजातीयता, बात बात में झगड़ा से भिन्नता, हाथों हाथ, रातों रात से निश्चयता, सर्वनाम के अन्तर्गत-जो जो आना चाहे, कौन कौन आये हैं से भिन्नता, कोई कोई ऐसा करते हैं—से पृथकता, विशेषण के अन्तर्गत अनूठे अनूठे खेल से भिन्नता, छोटे छोटे से एकजातीयता, ऊँचे ऊँचे से अतिशयता, एक एक गिरता है से भिन्नता आदि, क्रिया के अन्तर्गत—मारे मारे फिरना से अतिशयता, पढ़ते पढ़ते सो जाना से निरंतरता, चलूंगा चलूँगा से हठ आदि, क्रिया-विशेषण के अन्तर्गत धीरे-धीरे, पास पास, पीछे पीछे से अतिशयता आदि भावों का बोध होता है।

कभी कभी एक शब्द के समानुप्रासिक रूप के योग से विशेष भाववाची शब्दों को बनाया जाता है। इनमें दोनों शब्द कभी सार्थक और कभी निरर्थक होते हैं। यथा-सार्थक शब्दों के योग से संज्ञा के अन्तर्गत बाल-बच्चे, दाल-रोटी, काम-काज आदि, विशेषण के अन्तर्गत लूला-लंगड़ा, ऐसा वैसा, भरा पूरा, क्रिया के अन्तर्गत बोलना चालना, समझना बूझना, लेना देना आदि, अव्यय के अन्तर्गत जैसे इधर उधर, जहां तहां, आर पार, जैसे तैसे आदि। पुनरुक्त शब्दों में कभी एक शब्द सार्थक और दूसरा निरर्थक होता है। यथा-संज्ञा के अन्तर्गत टाल मटोल, पूछताछ, झाड़ झंखार, बातचीत, भीड़भाड़, चालढाल आदि, विशेषण के अन्तर्गत टेढ़ा मेढ़ा, भोला भाला, ठीक ठाक, उलटा पुलटा आदि, क्रिया के अन्तर्गत धोना धाना, देखना भालना, खींचना खांचना, आदि, अव्यय के अन्तर्गत आस पास, आमने सामने, औनेपौने आदि में सार्थक शब्द द्वारा व्यक्त भाव की अतिशयता का बोध होता है। कभी कभी दो निरर्थक शब्दों के योग से विशेष विशेष भावों की अभिव्यक्ति होती है। जैसे अटर सटर, अगड़ बगड़, टीम टाम, सटर-पटर, अनाप शनाप, हट्टा कट्टा, टांय टांय फिस, अंडबंड, लबड़धोंधों आदि ऐसे ही पुनरुक्त शब्द हैं।

ऊपर जैसा लिंग, विभक्ति, कारक, वचन, पुरुष, काल, वाच्य, द्वित्व आदि व्याकरणिक धाराओं का उल्लेख किया गया उनसे स्पष्ट है कि ये सभी धाराएँ पूर्णतया तर्कसंगत नहीं है। लिंग, वचन, काल आदि नैसर्गिक रूपों को ही व्यक्त नहीं करते। अचेतन पदार्थों के लिये पुलिंग अथवा स्त्रीलिंग का प्रयोग, दो, तीन तथा अपरिमित संख्याओं के लिये बहुवचन का प्रयोग, एक ही क्रिया के द्वारा सभी कालों तथा एक काल की क्रिया से दूसरे काल का बोध आदि तथ्य तर्कसंगत नहीं है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है भाषा की आदिम अवस्था में संभव है इनके नैसर्गिक रूपों का प्रयोग होता हो किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। व्याकरणिक रूपों के इतिहास पर दृष्टि-पात करने से पता चलता है कि पुराने रूपों में कहीं तो समानता है और कहीं भिन्नता तथा कालान्तर में इन्हीं में से कई रूपों का लोप हो गया है एवं कई नये रूपों का उद्‌भव हो गया है। कुछ विद्वानों ने पुराने समान रूपों का लोप और नये रूपों के विकास के मूल में प्रयत्न-लाघव की प्रवृत्ति स्वीकार की है। ध्वनियों के परिवर्तन के प्रसंग में इस प्रवृत्ति का उल्लेख पहले किया जा चुका है। पद-विकास में इस प्रवृत्ति का योग दूसरे रूप में होता है। ध्वनि-परिवंतन के कारण पद की विभक्ति आदि के लोप के फलस्वरूप अनेक पद-रूपों में समा-नता आ गई और इस प्रकार वही समान रूप अन्य रूपों के लिये भी प्रयुक्त होने लगा। उदाहरण के लिये संस्कृत में 'पुत्र' का प्रथमा बहु-वचन में'पुत्रा' : और द्वितीया बहुवचन में'पुत्रान्' था। प्राकृत में ध्वनि-परिवर्तन के कारण पुत्राः 7 पुत्ता और पुत्रान् 7 पुत्ता हो गया। इस प्रकार प्रथमा, द्वितीया बहुवचन के रूप एक हो गये।

संस्कृत के अनेक सुबन्त् और तिङ्न्त् रूपों में समानता थी। एक ही विभक्ति का रूप अन्य विभक्तियों में भी प्रयुक्त होता था। जैसे एक वचन में पंचमी, षष्ठी, द्विवचन में तृतीया, चतुर्थी, पंचमी तथा बहु वचन में चतुर्थी, पंचमी के प्रायः एक ही रूप व्यवहृत होते थे। किन्तु कुछ

समानता के अतिरिक्त संस्कृत के सुबन्त् और तिङ्न्त् रूपों में काफी विविधता और जटिलता थी। इसका परिहार सादृश्य (analogy) के द्वारा किया गया। द्विवचन के समस्त रूपों का बहुवचन में प्रयोग इसी के अन्तर्गत कहा जा सकता है। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं-पालि, प्राकृत आदि में द्विवचन का लोप हो गया इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। संस्कृत में स्वरान्त और व्यंजनान्त संज्ञादि के रूपों में विभक्ति चिह्नों की भिन्नता थी किन्तु पालि, प्राकृत में इस भिन्नता में कमी मिलती है। जैसे अकारान्त में षष्ठी एक० में-स्य विभक्ति चिह्न का प्रयोग होता था अन्य स्वरान्त रूपों में ऐसा नहीं था किन्तु प्राकृत में अकारान्त की यह विभक्ति अन्य स्वरान्त रूपों के लिये भी प्रयुक्त होने लगी। जैसे संस्कृत की षष्ठी एक० में कवि, अग्नि, भिक्षु का कवेः, अग्नेः, भिक्ष्वेः था किन्तु प्राकृत में कविस्स, अग्गिस्स, भिक्खुस्स रूप मिलते है। प्राकृत षष्ठी एक० और बहु० का रूप चतुर्थी के लिये भी प्रयुक्त होने लगा। इसी प्रकार तृतीया एक वचन की विभक्ति आ के योग का हस्तिन्-हस्तिना रूप हुआ और अन्य रूप कवि, मति, पति, मुनि, भिक्षु, भानु आदि में इसके योग से—कव्या, मत्या, पत्या भिक्ष्वा, भान्वा आदि न बनकर पालि में कविना, मुनिना, पतिना,, भानुना, भिक्खुना आदि रूप मिलते हैं। प्राकृत में भी कुछ ध्वनि-परिवर्तन के साथ ये ही रूप पाये जाते हैं। संस्कृत सर्वनाम की सप्तमी एक बचन की विभक्ति-स्मिन् पालि, प्राकृत के संज्ञादि रूपों की सप्तमी एक बचन में थोड़े ध्वनि-परिवर्तन के साथ मिलती है। जैसे—स्मिन् 7—म्हि, —स्सिं। बुद्धे, मुनौ, भिक्षौ 7 बुद्धिम्हि, मुनिम्हि, भिक्खुम्हि रूप पाये जाते हैं सादृश्य का यह प्रभाव तिङ्न्त (क्रिया) रूपों में भी मिलता है।

संस्कृत में भूतकाल के लिये चार लकार और भविष्य के लिये दो लकार थे किन्तु पालि, प्राकृत में प्रत्येक के लिये एक ही लकार की व्यापकता मिलती है। बिधिलिंग, आशीःलिंग और आज्ञा के अलग-

अलग रूप थे किन्तु प्राकृत में विधि और आशीः का एक रूप हो गया और हिन्दी आदि भाषाओं में इन तीनों को एक ही रूप से दिखाया जाता है। प्राकृत में आत्मने पद का प्रायः लोप हो गया और इसके वे रूप परस्मै पद में व्यवहृत होने लगे। व्याकरणिक रूपों की विविधता में एकरूपता लाने के लिये मानव-मस्तिष्क जितना प्रयत्नशील रहता है उतना ही रूपों की कमी से अर्थ-बोध में अस्पष्टता होने पर नये नये रूपों को बनाने के लिये भी वह जागरूक रहता है।

कारक-रचना

संज्ञा आदि विभक्तियों में विभक्तियों के एकीकरण हो जाने पर प्रत्येक विभक्ति के रूप को समझने में कठिनाई होने लगी। रूपों के स्पष्टीकरण के लिये सहायक शब्दों का प्रयोग संज्ञा आदि रूपों के साथ होने लगा। जैसे सप्तमी एक० में 'गृहे' के अतिरिक्त 'गृहमध्ये' का प्रयोग भी होने लगा। पहले उल्लेख हो चुका है कि आधुनिक आर्य भाषाओं में विभक्तियों के केवल मूल और विकारी दो ही रूप अवशिष्ट मिलते हैं। अतएव सहायक शब्दों के सदृश ही अलग अलग विभक्तियों में कारक चिह्नों अथवा परसर्गों का विकास आधुनिक भाषाओं की मुख्य विशेषता है।

संस्कृत की भांति ही प्राचीन यूरोपीय भाषाओं-ग्रीक, लेटिन, स्लावी, गॉथी आदि में विभक्तियों का प्रयोग होता था और कालान्तर में जब इनका ह्रास हो गया तो आधुनिक भारतीय भाषाओं के परसर्गों के सदृश ही आधुनिक यूरोपीय भाषाओं-अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी आदि में प्रिपोजीशन का व्यवहार किया जाता है। परसर्ग और प्रिपोजीशन में केवल इतना ही अन्तर है कि पहला संज्ञा आदि के अनन्तर रखा जाता है और प्रिपोजीशन संज्ञा आदि के पूर्व प्रयुक्त होता है।

क्रियाओं में विभक्तियों के लोप अथवा विकृत हो जाने के कारण रूपों में सुस्पष्टता स्थिर नहीं रह गई। अतः तिङन्त् रूपों के स्थान

पर कृदन्तों का प्रयोग अधिकाधिक किया जाने लगा। भूतकाल के कृदन्त-रूप का ही प्रायः व्यवहार किया जाता था। किन्तु कृदन्त अथवा सहायक क्रिया से कार्य-व्यापार का पूरा पूरा बोध नहीं हो पाता था। सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति इससे संभव नहीं थी। अतएव संयुक्त क्रिया का शनैः शनैः विकास हुआ। संयुक्त-क्रिया के रूपों के विकास-चिह्न प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं में मिलते हैं। आधुनिक आर्य भाषाओं में संयुक्त क्रिया का अत्युन्नत रूप दृष्टिगत होता है। संयुक्त क्रिया के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा विशेष विशेष भावों की अभिव्यक्ति होती है जिसे पहले सोदाहरण बताया जा चुका है। इस प्रकार सादृश्य के कारण पुराने रूपों का ह्रास और अस्पष्टता के कारण नये नये रूपों का विकास पद-विकास की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। डा० तारापोरवाला ने अंग्रेजी में भूतकाल के रूप कुड्(could) का उद्भव सादृश्य के द्वारा स्पष्ट किया हैं। अंग्रेजी शैल (shall) का भूतकाल में शुड् (should), विल्(will) का इसी प्रकार वुड् (would) नियमित है क्योंकि ल् (l) ध्वनि दोनों में है किन्तु अंग्रेजी कैन (can) का भूतकाल में कुड् (could) अकारण है क्योंकि कैन (can) में ल् (l) ध्वनि नहीं है किन्तु कुड् (could) में यह वर्तमान है। अतः अंग्रेजी कुड् (could) का प्रयोग शुड् (should) और वुड् (would) के सादृश्य पर प्रचलित हो गया।

बच्चों में सादृश्य के द्वारा क्रिया-रूपों के प्रयोग की विशेष प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। अंग्रेजी में ईट् (eat), हाइड् (hide) का भूतकाल में एट् (ate) और हिड् (hid) होता है। इसी के सादृश्य पर बच्चों में बीट् (beat) और राइड् (ride) का क्रमशः बेट् (bate) और रिड् (rid) मिलता है यद्यपि व्याकरणसम्मत प्रयोग बेट् और रोड् (rode) हैं। इसी प्रकार बहु वचन में प्रायः-s अथवा -es का योग होता है लेकिन कई ऐसे रूप भी हैं जिनमें बहुवचन के लिये इनका योग नहीं होता किन्तु सादृश्य से उन रूपों में भी-s अथवा-es का योग करके बच्चों द्वारा नये रूप बना लिये जाते हैं।

जैसे गूज़ (goose) का गूज़ेज् (gooses), टूथ (tooth) का टूथ्स् (tooths), नाइफ़ (knife) का नाइफ्स् (knifes), चीफ़ (chief) का चीव्ज़ (chieves)। यद्यपि इनके शुद्ध रूप क्रमशः गीज़ (geese), टीथ् (teeth), नाइव्ज़ (knives), चीफ्स् (chiefs) हैं। थीफ् (thief) का बहुवचन थीव्ज (thieves) होता है और इसी के अनुकरण पर चीफ् (chief) का बहुवचन चीव्ज़ (chieves) कर लिया गया। गुणवाचक विशेषण की उत्तमावस्था (superlative degree) के लिये अंग्रेजी में—est का योग होता है और इसका प्रयोग ऐसे शब्दों में भी कर लिया जाता है जो उत्तमावस्था में एक जैसे ही रहते हैं। जैसे गुडेस्ट् (goodest), बैडेस्ट् (baddest), लिटिलेस्ट् (littlest) यद्यपि गुड् (good), बैड् (bad), लिटिल् (little) के रूप उत्तमावस्था में भी ये ही रहेंगे। क्रिया में भी सादृश्य के द्वारा बने रूप बच्चों में पाये जाते हैं। भूतकाल का रूप अंग्रेजी की क्रियामें प्रायः-ed जोड़कर बनाया जाता है। इसका योग ऐसे शब्दों में भी करके नया रूप बना लिया जाता है जिनका अपना व्याकरणसम्मत रूप भिन्न है। जैसे कैच् (catch) का कैच्ड् (catched), बाइ (buy) का बाइड (buyed), हैंग (hang) का हंग्ड् (hunged), ड्रिंक् (drink) का ड्रिंक्ड् (drinked) यद्यपि इनके शुद्ध रूप क्रमशः काट् (cought), बॉट् (bought), हैंग् (hang), ड्रंक (drank) होंगे। सादृश्य के द्वारा ऐसे अनियमित रूपों का विकास न केवल बच्चों में ही वरन् उस भाषा के कम शिक्षित व्यक्तियों में भी पाया जाता है और इनमें से कुछ रूप अधिक व्यापक होने पर उस भाषा के नियमित रूप बन जाते हैं। हिन्दी में भी इस प्रकार के अनेक रूप मिलते हैं। यथा-'किया' के स्थान पर 'करा' का प्रयोग चल पड़ा है। ग्रामीण बोली में 'हुआ' के लिये 'भवा' का प्रयोग व्यापक मिलता है।

(ग) अर्थ-विकास

संगीत की स्वरलहरी, सुन्दर चित्रों की लालित्य, वास्तुकला के उत्कृष्ट रूप, प्रकृति का रम्य वातावरण सभी हमारे हृदय को भाव-विभोर कर देते हैं और वे मूक रूप से ही सब कुछ व्यक्त करते देखे जाते हैं। पत्र के अक्षर बिना बोले ही सब कुछ कह देते है और हम विचार-मग्न हो जाते हैं। अपनी वाणी को संभवतः अशक्त समझकर हम किसी भाव पर अधिक या कम बल देने के लिये इंगितो का सहारा लेते हैं। ये इंगित हमारे अभीष्ट अर्थ को कितनी तत्परता के साथ श्रोता के मस्तिष्क में बैठा देते है, यह एक सहज अनुभव की बात है। इस प्रकार अर्थ की व्यपकता शब्द से भी अधिक है। सृष्टि की कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो अर्थ से विलग हो। इसीलिये संभवतः शब्द-ब्रह्म से सृष्टि का विकास माना गया है। पशु, पक्षी, चर-अचर सभी एक दूसरे से अर्थ के द्वारा ही बंधे है। प्रत्येक वस्तु अथवा प्राणी मे एक संकेत निहित है। वही संकेत रूप, रंग, रस, ध्वनि आदि के द्वारा मुखर हो कर हमारे मस्तिष्क को उद्वेलित कर देता है और हम उनसे विशेष विशेष भाव या अर्थ लगा लेते हैं। अर्थ की यह जांच-पड़ताल यूरोप मे संकेत-विज्ञान, शब्दार्थ विज्ञान आदि रूपों में हुई है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

भारतवर्ष में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर अनेक वैयाकरणो तथा दार्शनिकों ने विस्तार से विचार किया है। वे शब्द और अर्थ मे नित्य-सम्बन्ध मानते हैं। पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि आदि वैयाकरण शब्द और अर्थ की नित्यता से यही आशय लेते है की शब्द और अर्थ का कभी संबध विच्छेद नहीं होता। अर्थ शब्द की स्वाभाविक विशेषता है। दोनों का अस्तित्व एक दूसरे पर निर्भर करता है। पतंजलि के 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' का भी यही आशय है। शब्द और अर्थ का

सम्बन्ध स्वभावसिद्ध है। उनके इसी सम्बन्ध के कारण भावों, वस्तुओं पदार्थों की पृथकता का बोध होता है। कोई शब्द कब से विशेष अथवा सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ, यह बताना कठिन है। कुछ भारतीय वैयाकरण इसे अनादि काल से आया मानते हैं किन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता। मनुष्य ने आवश्यकतानुसार विभिन्न अर्थों से सम्बन्धित नये नये शब्दों का विकास शनैः शनैः किया होगा। शब्द और अर्थ का नियमन किसी दैवी सत्ता ने किया और मनुष्य से इसका कोई सम्बन्ध नहीं, यह कहना युक्तिसंगत नही। शब्द और अर्थ में वाचक-वाच्य, कारण-कार्य का सम्बन्ध है। अतः यह कहा जा सकता है कि शब्द और अर्थ का अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

शब्द को कुछ वैयाकरण नित्य नहीं मानते उनकी दृष्टि में शब्द सदैव एक रूप में वर्तमान नहीं रहता, बोलने पर ही प्रकट होता है और फिर तुरन्त ही नष्ट हो जाता है। अतः जब शब्द ही नित्य नहीं है तो फिर शब्द और अर्थ की नित्यता कैसे स्थिर रह सकती है। किन्तु ये तर्क शब्द की सार्थकता को नष्ट नही कर देते। शब्द शून्य में अथवा मनुष्य के मस्तिष्क में सदैव वर्तमान रहता है और ध्वनियों के द्वारा आवश्यकतानुसार वह प्रत्यक्ष हो जाता है। शब्दों के रूप या अर्थ में विकार होने से इसके अस्तित्व में कोई बाधा नहीं होती। शब्द में ध्वनि-सम्बन्धी विकार आता रहता है और तज्जन्य उस पर जो अस्पष्टता का आरोप लोग कर लेते हैं वह अर्थ सम्बन्धी ही है। शब्द का अर्थ कितना ही क्यों न बदल जाय लेकिन शब्द अर्थविहीन कभी नही होता। अतएव शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता से यही आशय लेना चाहिये। रघुवंश के प्रारम्भ में कविसम्राट् कालिदास ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को शिव और पार्वती की उपमा से प्रकट किया है। शिव और पार्वती के संबंध के सदृश शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी अविच्छिन्न है :—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ।।

महामना तुलसीदास ने रामचरितमानस के प्रारम्भ में वर्ण-समूह और अर्थ में इसी सम्बन्ध को व्यक्त किया है :—

वर्णानार्थसंघानां रसानां छन्दसामपि ।
मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ ।।

शब्द और स्फोट

शब्द और अर्थ एक ही आत्मा के दो रूप अथवा एक सिक्के के दोनों भाग के समान कहे जा सकते हैं। जब किसी शब्द का उच्चारण किया जाता है तो श्रोता वक्ता के अभिप्राय से तादात्म्य स्थापित कर कथित भाव को समझता है। इस प्रकार शब्द, अर्थ और ज्ञान का अविच्छिन्न संबंध है। ज्ञान के द्वारा शब्द का अर्थ प्रकट होता है। पाश्चात्य भाषाविदों ने शब्द और अर्थ में सांकेतिक संबंध माना है। उनकी दृष्टि में प्रत्येक शब्द प्रतीकात्मक अर्थ को व्यक्त करता है। वक्ता इच्छित अर्थ के लिये अपने दृष्टिकोण के अनुसार शब्द का प्रयोग करता है। वस्तु आदि से संबंधित जो विचार मष्तिष्क में हैं उन्ही को व्यक्ति शब्दों से प्रकट करता है। इस प्रकार वस्तु और शब्द विचार से संबद्ध हैं। शब्द विचारों के प्रतीक हैं। किन्तु शब्द और अर्थ के संबंध में इससे कोई विरोध नहीं होता। वाणी और विचार में जो संबंध है वही शब्द और अर्थ में है। संस्कृत के आचार्यों ने शब्द को स्फोट का पर्याय माना है। स्फोट को शब्द और ध्वनि को शब्द का गुण माना गया है। ध्वनि के द्वारा स्फोट प्रकट होता है। शब्द से अर्थ प्रस्फुटित होता है इसलिये शब्द-तत्त्व स्फोट हुआ। स्फोट और ध्वनि में कार्य-कारण संबंध है। स्फोट के कारण ध्वनि की उत्पत्ति होती है। अतः ध्वनि और

स्फोट परस्पर एक दूसरे पर आधारित हैं। दोनों में तादात्म्य रहता है। स्फोट ही ऐसी प्रतिभा और शक्ति है जो शब्द में निहित अर्थ को प्रकाशित करती है। स्फोट आत्मा और ध्वनि शरीर है, स्फोट प्रतिभा है तो ध्वनि ज्ञान है, स्फोट परोक्ष और ध्वनि प्रत्यक्ष होती है।

शब्द-अर्थ का सम्बन्ध, विकास, परिवर्तन आदि संबन्धी विवेचन भाषा - विज्ञान के अन्तर्गत अर्थविज्ञान (Semantics) के रूप मे किया गया है। पाश्चात्य विद्वानों ने अर्थ का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है कि वह अनिश्चित, विकारपूर्ण और अपूर्ण होता है। कभी कभी अज्ञानता और दृष्टिभेद के कारण एक ही शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ लगा लिये जाते है। अर्थ की परिवर्तनशीलता और अनिश्चितता पर भारतीय आचार्यो और वैयाकरणों ने काफी विचार किया है। शब्द की अभिव्यक्ति किसी एक प्रयोजन के लिये होती है किन्तु उससे अन्य अर्थों का भी बोध कराया जाता है। अर्थ में ऐसी शक्ति है जिससे वह विभिन्न अर्थों को व्यक्त कर सकता है। एक ही शब्द 'सुन्दर' के लिये अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार प्रकट करेगे। यह पहले कहा चुका है कि अर्थ अनिश्चित है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति एक शब्द का अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार अर्थ करता है। वक्ता जिस प्रकार अपने ढंग से अर्थ का प्रयोग करता है श्रोता उसे अपनी बुद्धि के अनुसार ग्रहण करता है। अर्थ-ग्रहण में वक्ता का जो आशय होता है उसे श्रोता दूसरे अर्थ में ले सकता है। पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने इसी प्रकार अर्थ से सम्बधित अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया है। अर्थ के लक्षणों का विवेचन पाश्चात्य विद्वान ऑग्डेन व रिचाड्‌स की पुस्तक 'मीनिंग आव् मीनिंग' में विस्तारपूर्वक मिलता है। अर्थ को वस्तुओं के प्रतीक, वस्तुओं से प्रकट किये हुये मनोभाव, संकेत से संवद्ध पदार्थ, अनुभवों से सिद्ध वस्तु का क्रियात्मक परिणाम, वाच्य अथवा लक्ष्य रूप

में निहित विचारात्मक परिणाम, कोई संकल्प, तथ्य, भाव, बात आदि से सम्बन्धित किया गया है।

अर्थ-विकास के कारण

अर्थ-विकास के सम्बन्ध में यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि अर्थ का विकास क्यों और कैसे हुआ ? भारतीय वैयाकरणों ने इस तथ्य पर विस्तार से विचार प्रकट किये हैं। ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है कि वाक्शक्ति का सर्वप्रथम प्रयोग वस्तुओं का नामकरण करने के लिये किया गया। सांसारिक नानाप्रकार की वस्तुओं के लिये विभिन्न नामों का निर्धारण मनुष्य की प्रतिभा का परिणाम है। विभिन्न नामों को कैसे रखा गया, इसकी विस्तृत विवेचना की गई है। नाम वस्तुओं के स्वरूप एवं कार्य के अनुसार रखे जाते हैं। 'रुद्र' नाम का प्रयोग इसलिये हुआ कि वह रुलाता है। एक ही वस्तु के अनेक गुणों के कारण विविध नाम पड़ जाते हैं। प्रत्येक नाम से उसके अलग अलग गुणों का बोध होता है। परमात्मा एक है किन्तु गुणों के कारण उसके अनेक नाम हो गये हैं। यास्काचार्य ने 'निरुक्त' (शब्दों की व्युत्पत्ति के प्रसंग) में ऐसे ही कारणों का उल्लेख किया है। ऋषि विशेष का नाम 'विश्वामित्र' इसलिये पड़ा क्योंकि वे सभी के मित्र थे।

शब्दों के द्वारा नामों को व्यक्त करने में सबसे कम प्रयत्न लगता है। इसलिये संसार का समस्त ज्ञान शब्दों के द्वारा ही प्रकट हुआ है। भारतीय वैयाकरण नामों को धातुज मानते हैं अर्थात् सब नाम किसी न किसी क्रिया से सम्बन्धित हैं। शब्दों में क्रियागुण की प्रधानता है। जैसे 'मनुष्य' शब्द का उद्भव 'मननशील प्राणी' होने के कारण हुआ। किन्तु कुछ वैयाकरणों ने आपत्ति की है कि यदि प्रत्येक नाम धातु पर आधारित है तो एक क्रिया से सम्बन्धित अनेक नाम होंगे और फिर भाव-बोध में बाधा होगी। जैसे छेदन करने

वाली वस्तु को 'तृण' कहा गया किन्तु छेद करने वाली अन्य वस्तुयें भी 'तृण' कही जायेंगी और एक वस्तु जितनी क्रियाओं से सम्बन्धित है उतने ही उसके नाम होने चाहिये । साथ ही क्रिया से पहले कर्ता की स्थिति होती है इसलिये क्रिया से कर्ता को उत्पन्न नहीं माना जा सकता किन्तु लोक-व्यावहारिक रूप में एक ही क्रिया करने वाले के लिये एक ही नाम रखा हुआ नहीं मिलता । प्रत्येक घूमने वाले को 'परिव्राजक' नहीं कहते । किसी विशेष के लिये ही यह शब्द प्रयुक्त होता है । अनेक क्रियाओं से सम्बन्धित होने पर भी एक विशेष क्रिया के आधार पर ही नाम पड़ता है । जैसे पृथु (व्यापक) होने के कारण पृथिवी नाम पड़ा । वस्तुओं के नाम क्रिया के अनुसार पहले व्यापक होते हैं फिर एक अर्थ मे रूढ़ि हो जाते हैं और कर्ता आदि के नाम भी क्रिया विशेष के आधार पर पड़ते है ।

नामकरण के मूल में भी लाघव की प्रवृत्ति प्रधान है । वस्तु, व्यक्ति आदि का सम्यक् बोध हो सके इसलिये उनके अलग अलग नाम रख लिये जाते हैं यह भी विशेष रूप से नाम का प्रथम प्रयोग करने वाले पर निर्भर करता है । वह अपने अभिप्राय के अनुसार ही नामकरण करता है और बाद में वही नाम रूढ़ि और सर्वप्रचलित हो जाता है । नाना प्रकार की अवस्थाओं, सम्बन्धों, गुणों के अनुसार नाम पड़ते हैं और इनमें से किसी एक अवस्था, सम्बन्ध तथा एक गुण की प्रधानता इसका कारण होती है । किसी स्थान विशेष का नाम 'बैसवाड़ा' इसीलिये पड़ गया कि वहां वैश्य विशेषकी प्रधानता थी । किन्तु इससे यह आशय नहीं निकलता कि वहां वैश्य के अतिरिक्त अन्य जातियों के लोग रहते ही नहीं । अतः नाम से निश्चित और पूर्ण अर्थ का बोध नहीं हो पाता । इस आधार पर यह कहा जाता है कि नाम, भाव, वस्तु आदि के अंश का बोध कराते हैं ।

व्यक्तियों तथा जातियों के नाम जो पिता, माता, गोत्र, जन्म-

स्थान, राशि, क्रिया, गुण आदि पर रखे मिलते हैं उन्हें सार्थक नहीं माना जाता। प्रारम्भ में वे संकेतित अर्थ को व्यक्त करते हैं, बाद में वे अपने मूल आधार का केवल संकेतमात्र ही करते हैं। व्यक्तियों के नाम के साथ चतुर्वेदी, त्रिवेदी आदि नाम इस बात के द्योतक नहीं हैं कि उस व्यक्ति ने चार वेद या तीन वेद का पारायण ही किया है लेकिन सर्वप्रथम इसी विशेषता के कारण ये नाम रखे गये होंगे। कभी कभी रचयिता के नाम से उसकी कृति का बोध होता है। जैसे क्या तुमने तुलसीदास, प्रसाद को पढ़ा है? यहां तुलसीदास, प्रसाद से आशय उनकी रचनाओं से है। कभी संपूर्ण के लिये एक अंश का प्रयोग प्रचलित हो जाता है। जैसे अंग्रेजी बाइसिकिल के लिये केवल 'साइकिल' या 'बाइक' शब्द, गैसबत्ती के लिये केवल 'गैस', मोटरकार के लिये 'मोटर' या 'कार' शब्द का प्रयोग आदि।

प्रकरण अथवा साहचर्य के अनुसार अर्थ-विकास होता है। जैसे 'सैन्धव' शब्द नमक अथवा घोड़ा अर्थ में प्रकरण के अनुसार अलग-अलग होगा। सुन्दर चित्र, सुन्दर युवती में 'सुन्दर' शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न होगा। सादृश्य के अनुसार भी अर्थ का विकास होता है। 'पाद' शब्द प्रारम्भ में पैर के लिये था, बाद में पशु के पैर का चतुर्थांश होने के कारण चौथाई के लिये, फिर खाट के पाये के लिये इसका प्रयोग होने लगा। 'मधु' शब्द प्रारंभ में सोमरस के लिये फिर बाद में शहद, सुरा आदि के लिये भी प्रयुक्त होने लगा। तिल और मसे (मच्छड़) का प्रयोग शरीर के तिल और मसे के लिये भी होता है। इसी सादृश्य के कारण आरी के दांत, अनानास की आंखें, सुराही की गर्दन, पतंग की पूंछ आदि का भी प्रयोग कर लिया गया है।

अशुभ, अमंगल तथा अश्लील भावनाओं के निराकरण के लिये भी नये नये शब्द विकसित कर लिये जाते हैं। मृत्यु जीवन का सबसे बड़ा

अभिशाप है। इसके लिये सिधार जाना, स्वर्गबास या कैलाशवास होना, पंच तत्त्व में मिलना, शरीर छोड़ना, प्राण पखेरू उड़ जाना, देहान्त आदि अनेक प्रकार की शब्दावली का विकास कर लिया गया है। बीमारी की सूचना ही अशुभ है। अतः उर्दू में इसे-उनके दुश्मनों की तबियत नासाज़ है-कह कर प्रकट किया जाता है। दूकान बंद करना अशुभ है इसलिये दूकान बढ़ाना, दिया बुझाना के लिये दिया बढ़ाना, होली जलाने के लिये होली मंगलाना आदि कहा जाता है। वैधव्य का बोध चूड़ी फूटना, मांग मिटना आदि से कराया जाता है। लाश को मिट्टी, जली हड्डियों के अवशिष्ट को 'फूल' कहा जाता है। सांप के काटने को कीड़े का सूंघना, चेचक आदि को देवी की कृपा माना जाता है। भारतीय स्त्रियाँ इसी कारण अपने पति का नाम नहीं लेतीं। इसके लिये विशेष विशेष शब्द प्रचलित हैं।

अश्लील बातों को भी घुमा-फिरा कर कहने के कारण नई शब्दावली का विकास हो जाता है। गर्भावस्था को सूचित करने के लिये पांव भारी होना प्रचलित है। सहवास, समागम, आलिंगन, चुंबन आदि को भिन्न भिन्न प्रकार से प्रकट किया जाता है। फ़ारसी भाषा में पेशाब, पाखाना के मूल अर्थ क्रमशः आगे का पानी और पैर रखने की जगह है किन्तु विशेष दैनिक क्रियाओं के लिये ये शब्द अब रूढ़ि हो गये हैं। इनके लिये कई अन्य शब्द भी प्रयोग में आ गये हैं। जैसे लघुशंका, दीर्घ शंका आदि। गांवों में शौच के लिये खेत जाना, दिशा जाना, जंगल जाना, नगर में इसके लिये इंगलैंड जाना, पाकिस्तान जाना आदि शब्द भी प्रचलित हो गये हैं। इसी कारण पुरुष और स्त्री के जननेन्द्रियों के लिये देशी नामों का प्रयोग नहीं किया जाता। अशिष्ट समाज में ही इनका प्रयोग पाया जाता है। इसलिये स्त्रियों के आवरण अपेक्षित अंग विशेषों के लिए भी भिन्न भिन्न शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं।

विनम्रता का भाव प्रदर्शित करने के लिये नई शब्दावली का विकास

हो गया है। अन्धे को सूरदास, चमार को रैदास, दर्जी को खलीफ़ा, अछूत को हरिजन, भंगी को मेहतर या जमादार, रसोई बनाने वाले को महाराज, ठाकुर आदि नामों से संबोधित किया जाता है। इसी नम्रता के कारण पुलिस सब-इंस्पेक्टर को डिपुटी साहब, मुंसिफ को जज साहब, डिपुटी क्लक्टर को कलक्टर आदि भी कह दिया जाता है। हरिजन, सूरदास आदि शब्द प्रारम्भ में भले ही सम्मानित रहे हों किन्तु अब रूढ़ि हो जाने पर वे अपनी विशेषता खो बैठे हैं। उर्दू में नम्रतासूचक शब्दावली का अधिक प्रयोग किया जाता है। वक्ता श्रोता से उसका दौलतखाना (मकान) पूछता है और श्रोता उत्तर में अपना गरीबखाना (मकान) अमुक स्थान में बताता है। चाहे वक्ता का स्थान महल क्यों न हो और श्रोता की केवल एक झोपड़ी ही हो। इसी प्रकार अपनी अच्छी बात 'अर्ज़' कर के कही जाती है और दूसरे की निकम्मी बात को भी 'फ़रमाने' के लिये कहा जाता है। इसी विनम्रता के कारण अपना लड़का आपका लड़का, अपना व्यवसाय आपका व्यवसाय हो जाता है। छोटे को भी 'आप' इसी कारण कहा जाता है और वह उसमें बड़प्पन का अनुभव करता है। प्रत्येक बात में 'हुकुम' बजा लाने वाले भी अपनी नम्रता का प्रदर्शन करते हैं। वक्ता पूछेगा-'आपका शुभ नाम क्या है', चाहे श्रोता का नाम निकृष्ट ही क्यों न हो।

आलंकारिक ढंग से किसी बात को कहने में भी अर्थ-विकास होता है। मार खाना, भय खाना, मीठी बात, कड़वी बात, टेढ़ी बात, सीधी बात, हलका आदमी, भारी आदमी, सीधा आदमी, टेढ़ा आदमी आदि से अर्थ की विशेषता प्रकट होती है। निर्जीव पदार्थ सजीव बना दिये जाते हैं। वेदना का आहें भरना, चांद-सितारों का परस्पर बातें करना आदि ऐसी ही उक्तियाँ हैं। पहाड़ी स्थानों में एक पत्ती होती है जिसके स्पर्श से विच्छू काटने का सा दर्द होता है, इसलिये उसे 'विच्छू' के नाम से कहते हैं। हुक्का पानी का खुलना और बन्द होना भी विशेष उक्ति का परिचायक है। एक ही शब्द उक्ति-वैचित्र्य के कारण कई अर्थों में प्रयुक्त होता

है। हाथ पसारना, हाथ जोडना, हाथ खींचना, हाथ मलना आदि में हाथ शब्द से विभिन्न अर्थ प्रकट होते हैं।

वक्ता कभी कभी सीधी बात की अपेक्षा विपरीत बात से अपने अभिप्राय को प्रकट करता है। वह अपने को बड़ा अक्लमन्द समझता है, भला आप से बढ़कर गरीब कौन हो सकता है? यहाँ अक्लमन्द और गरीब का अर्थ 'मूर्ख' और 'धनी' से होगा। अज्ञानता और भूल के कारण भी कुछ शब्द प्रचलित हो जाते हैं। पुर्तगाली में 'पाव' का अर्थ रोटी है किन्तु हम 'पावरोटी' का व्यवहार करते हैं। 'रोटी' शब्द का दो बार प्रयोग होने के कारण एक और शब्द इसके लिये 'डबल रोटी' पड़ गया। विन्ध्याचल पर्वत में 'अचल' शब्द पर्वत के अर्थ में है ही, पर्वत शब्द का दुबारा प्रयोग अनावश्यक है। कुछ लोग अन्तर्धान का अन्तर्ध्यान, शाप का श्राप शुद्ध समझते हैं।

भावातिरेक के कारण भी शब्द का अर्थ-विकास हो जाता है। नालायक, बेवकूफ, शैतान जो अशिष्ट शब्द हैं वे भी प्यार में कहे जाने पर अशिष्टता के भाव का बोध नहीं कराते। ये शब्द यदि क्रोध में कहे जांय तो अपने संकेतित अर्थ को प्रकट करेंगे। रूपक के द्वारा भी अर्थ की विशेषता प्रकट होती है। वह उल्लू है, वह बैल है, रणजीत सिंह को पंजाब का सिंह कहा जाता है, वह रट्टू तोता है—में उल्लू, बैल, सिंह, तोता का प्रयोग गुण-विशेष के अर्थ में हुआ है।

शब्दों का अर्थ-विकास सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक कारणों से भी होता है। इन अवस्थाओं से प्रभावित हो कर नये नये शब्दों का निर्माण होता है। भारतीय स्वतंत्रता के उपरान्त राष्ट्र-भाषा हिन्दी में सैकड़ों नये नये पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हुआ है और हो रहा है। इस प्रकार अर्थ-विकास कभी अदृष्ट रूप में और कभी

ऐच्छिक प्रयत्न के द्वारा होता है। नई पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण वाह्य प्रयत्न का परिणाम है।

देश-भेद, काल-भेद से भी शब्दों के नये नये अर्थ विकसित होते हैं। 'असुर' शब्द संस्कृत में 'राक्षस' के अर्थ में और यही शब्द 'अहुर' अवेस्ता-ग्रंथ में पारसियों के उपास्यदेव अहुरमज़्दाह के रूप में 'देवता' के अर्थ में है। 'देव' शब्द संस्कृत में देवता के अर्थ में है और ईरानी में 'देव' राक्षसवाची है। असुर के संबंध में कुछ विद्वानों का कथन है कि पहले 'असुर' शब्द देवता के अर्थ में था और बाद में 'अ' को उपसर्ग मानकर 'सुर' देवता अर्थ में और 'असुर' उसके विपरीत रूप का वाची हो गया। बाटिका शब्द संस्कृत, हिन्दी में उपवन और बंगला भाषा में इसका रूपान्तर 'बाड़ी' घर के अर्थ में प्रयुक्त होता हैं। गुजराती में 'मीठु' का अर्थ नमक से लिया जाता है। संस्कृत में अनेक शब्दों का मूल अर्थ आजकल की भाषाओं में विकसित हो गया है। ऐसे शब्दों के उदाहरण अर्थ-विकास की धाराओं के अन्तर्गत आगे दिये गये हैं।

मुहावरे, लोकोक्तियां, कहावतें आदि समूहवाची शब्दों के द्वारा भी अर्थ की व्यापकता प्रकट होती है। जैसे ठोक बजा लो, काला अक्षर भैंस बराबर, अक्ल बड़ी कि भैंस, आठ आंसू रोना आदि मुहावरों से विशेष प्रकार की अर्थ-व्यंजना होती है। कभी कभी एक शब्द में अनेक अर्थों को व्यक्त करने की क्षमता होती है। शब्द-शक्ति के द्वारा भी अर्थ का विकास होता है। भारतीय आचार्यों ने तीन शब्द-शक्तियां मानी हैं—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना। शब्द और अर्थ के संबंध को 'शब्द-शक्ति' के नाम से कहा गया है, इसका उल्लेख पहले हो चुका है। शास्त्रीय विवेचन के अन्तर्गत इन तीन शक्तियों से सम्बन्धित शब्द वाचक, लक्षक और व्यंजक कहलाते हैं। संकेतित अर्थ वाचक, लाक्षणिक अर्थ लक्षक और व्यंग्यार्थ व्यंजक शब्द से प्रकट होता है।

शब्द का सामान्य अर्थ प्रायः वाच्यार्थ ही होता है। अभिधा के ये तीन भेद होते हैं—रूढ़ि, योग और योग रूढ़ि। शब्दों की व्यत्पत्ति किये बिना ही समझ में आ जाने वाले शब्द 'रूढ़ि' कहलाते हैं। जैसे, गौ, मृग आदि। जिन शब्दों की व्युत्पत्ति आदि करके अर्थ समझा जाता है उन्हें यौगिक कहते हैं। जैसे कलाविद्, संगीतज्ञ, कुम्भकार आदि। जिन शब्दों की व्युत्पत्ति तो हो सकती है किन्तु अर्थ कुछ बदल जाता है। जैसे पंकज-कीचड़ से उत्पन्न होने वाला, किन्तु कमल अर्थ में यह रूढ़ि हो गया हैं। इसलिये यौगिक होते हुए भी यह रूढ़ि है। रूढ़-शब्द का विभाजन भी तीन रूपों में हुआ है। नैमित्तिक जिससे जातिविशिष्ट का बोध होता है जैसे गाय। पारिभाषिक जिनसे आधुनिक संकेतों का बोध हो जैसे देवदत्त। औपाधिक जिनसे उपाधि विशिष्ट पदार्थ का बोध हो जैसे आकाश, पशु आदि। अभिधा के द्वारा व्यक्त संकेतित अर्थ जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य चार प्रकार का माना गया है।

शब्दों से मुख्य अर्थ के अतिरिक्त उससे संबद्ध जब किसी दूसरे अर्थ का बोध होता है तो वह लक्षणा-शक्ति के अन्तर्गत आता है। लक्षणा के द्वारा जब कोई अर्थ लगाया जाता है तो उसमें मुख्यार्थ का न बिल्कुल लोप होता है, न वह स्पष्ट रहता है एवं मुख्यार्थ नये अर्थ से कुछ संबंधित रहता है। साथ ही किसी प्रयोजन या परम्परा के कारण वह प्रकट होता है। लक्ष्यार्थ में उक्त तीनों विशेषताओं का समावेश रहता है। लक्षणा के मुख्य दो भेद हैं-रूढ़ और प्रयोजनवती। इनके मुख्य छः भेद किये गये हैं—लक्षण-लक्षणा, उपादान लक्षणा, गौणी सारोपा लक्षणा, गौणी साध्यवसाना लक्षणा, शुद्धा सारोपा लक्षणा, शुद्धा साध्यबसाना लक्षणा। जब शब्द अपने संकेतित अर्थ को बिल्कुल छोड़कर नया अर्थ प्रकट करता है तो वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है। जैसे भारतवर्ष शान्ति का पुजारी है। यहाँ पर आशय है कि 'भारतवर्ष के रहने वाले' शान्ति चाहते हैं। पूर्वी प्रदेश बाढ़ से पीड़ित है अर्थात् पूर्वी प्रदेश के रहने वाले बाढ़ से पीड़ित हैं।

जब शब्द अपना मुख्यार्थ भी न छोड़े और नये अर्थ का भी बोध हो तो वहां उपादान लक्षणा होती है। जैसे किसी तरह से रोटी का गुज़ारा हो रहा है, सफेद टोपी का राज्य है। यहाँ रोटी के मुख्यार्थ का बिल्कुल लोप नहीं होता। जब एक शब्द के अर्थ पर दूसरे शब्द के अर्थ का गुण की समानता के आधार पर आरोप किया जाय तो वहाँ गौणी सारोपा लक्षणा होती है। यथा-सच्चा आलोचक हंस की गणना में आता है। हंस नीर-क्षीर में भेद करने के लिये प्रसिद्ध है। इस गुण का आरोप आलोचक पर हुआ है। जब आरोप्य विषय के गुण का आरोपित में अध्यवसान हो जाय उपमेय-उपमान एक हो जाय तो वहां गौणी साध्यवसाना लक्षणा होती है। जैसे आज चन्द्रमा किधर से उदय हुआ, कमल मुरझाया क्यों है ? यहां चन्द्र और कमल मुख के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

जब एक अर्थ का आरोप दूसरे पर गुण के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के संबंध के आधार पर किया जाय तो वहां शुद्धा सारोपा लक्षणा होती है। जैसे दूध जीवन है, अनियमित भोग मृत्यु है। यहाँ दूध जीवन में गुण की कोई समानता नहीं है किन्तु दोनों में फिर भी संबंध प्रकट किया गया, इसी प्रकार भोग और मृत्यु में संबन्ध दिखाया गया है। इनमें कार्य-कारण का सम्बन्ध कहा जा सकता है। जब आरोप्य विषय का आरोपित में गुण के अतिरिक्त किसी अन्य सम्बन्ध के कारण अध्यवसान कर दिया जाय तो वहाँ शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा होती है। जैसे किसी मृत्प्राय व्यक्ति को जब आक्सीजन गैस दी जा रही हो तो कोई कहे-उसे जीवन मिल रहा है। यहाँ 'आक्सीजन' आरोप विषय का आरोप्य विषय 'जीवन' के साथ अध्यवसान कर दिया गया है। लक्षणा के ये भेद मान्य हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य भेदों का भी उल्लेख किया गया है। लक्षणा शब्द और वाक्य दोनों में होती है।

शब्द-शक्ति का तीसरा भेद 'व्यंजना' है। शब्द से वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त कभी कभी एक अनोखा ही अर्थ व्यक्त होता है। व्यंजना-शक्ति केवल शब्द से ही संबंधित नहीं होती वरन् अर्थ से भी संबंधित होती है। व्यंजना का इस आधार पर 'शाब्दी' और 'आर्थी' दो रूपों में भेद किया गया है। शाब्दी व्यंजना अभिधामूला और लक्षणा-मूला होती है और आर्थी व्यंजना वाच्यार्थसंभवा, लक्ष्यार्थसंभवा एवं व्यंग्याथसंभवा होती है।

जब अभिधा द्वारा एक शब्द से अनेक शब्दों का बोध हो और एक अर्थ निश्चित करने के लिये कभी अलग से अन्य कोई स्वीकारात्मक या निषेधात्मक शब्द का संयोग किया जाय। जैसे 'हरि' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु शंखचक्र से युक्त हरि केवल 'विष्णु' के अर्थ में होगा और वज्रहीन हरि से 'इन्द्र' का अर्थ होगा। अन्य शब्दों के साहचर्य से अर्थ का निश्चय होता है। जैसे महाभारत-युद्ध में हरि का प्रयोग कृष्ण के लिये होगा। प्रकरण-भेद से अर्थ-निर्णय होता है। इसका उत्तम उदा-हरण बिहारी का यह प्रसिद्ध दोहा है—

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

इसमें राधा वृषभ (बैल) की बहन अर्थात् गाय और कृष्ण हलधर (बैल) के भाई हैं अर्थात बैल हैं। इनमें दोनों शब्दों से व्यंजना प्रकट होती है इसलिये यह शाब्दी व्यंजना का उदाहरण है। लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना में लक्षणा से अर्थ प्रकट होता है। जैसे बम्बई समुद्र में बसा है। अर्थात् बम्बई समुद्र के बिल्कुल निकट है क्योंकि समुद्र में कोई नगर नहीं बस सकता। जब शब्द के वाच्यार्थ से किसी अन्य अर्थ की व्यंजना प्रकट हो तो वहाँ वाच्यसंभवा आर्थी व्यंजना होती है। जैसे रात

हो गई-कहने से रात से संबंधित अनेक अर्थ व्यक्त हो जाते हैं। जब शब्द के लक्ष्यार्थ से व्यंजना प्रकट हो तो वह लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना होती है। जैसे आप तो गुरु निकले, यहाँ गुरू से गुरू घंटाल अर्थ की व्यंजना होती है। जब एक व्यंग्यार्थ से दूसरे व्यंग का बोध हो तो वहाँ व्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना होती है। जैसे प्राकृत भाषा में गाथासप्तशती की एक गाथा का भावार्थ है—'देखो, कमलिनी के पत्ते पर सारस निश्चल, बिना हिले डुले बैठी हुई कैसी सुन्दर लगती है जैसे निर्मल मरकत की थाली में शंख रखा हो।' यहाँ प्रकृति के वर्णन के बहाने नायिका अपने प्रेमी नायक को एकान्त वातावरण का संकेत कर रही है और दूसरी ओर यह भी संकेत है कि हम वहाँ स्वच्छंद रूप से प्रेम-क्रीड़ा कर सकते हैं। आर्थी व्यंजना की विशिष्टता वक्ता और श्रोता से संबंधित है। जो व्यक्ति जिससे इसको प्रकट करता है वही इस व्यंग्यार्थ को समझता है अन्य व्यक्ति इससे अनिभिज्ञ रहता है। काकु (ध्वनि-भेद) से भी आर्थी व्यंजना प्रकट होती है। जैसे जी हाँ, आप तो बिल्कुल निर्दोष हैं। यहाँ निर्दोष में ध्वनि-भेद से दोष की भावना प्रकट होती है। व्यंजना का व्यापक अर्थ लिया जाय तो सभी प्रकार की भाव-व्यंजना, अलंकार-व्यंजना, वस्तु-व्यंजना आदि इसके अन्तर्गत आ जायेंगी।

अर्थ-परिवर्तन की दिशाएं

पहले बताया जा चुका है कि शब्द का अर्थ परिवर्तनशील होता है। ऊपर अर्थ-विकास के कारणों का उल्लेख किया गया। पाश्चात्य विद्वान ब्रील (Breal) ने अर्थ-परिवर्तन को तीन धाराओं में बाँटा है—अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच और अर्थ-विपर्यय। भारतीय वैयाकरणों ने भी अर्थ-विकास के विविध रूपों का विवेचन प्रस्तुत किया है। पाश्चात्य विद्वानों का यह विभाजन वैज्ञानिक अधिक है। शब्द अपने मूल रूप में व्यापक अर्थ रखता है। बाद में बिशिष्ट अर्थ में व्यवहार करने के

लिये उसे नियन्त्रित कर दिया जाता है । शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'गो' शब्द के अनेक अर्थ हैं किन्तु वह 'गाय' के लिये ही प्रयुक्त होता है । 'पशु' के मूल अर्थ में मनुष्य भी शामिल था । बाद में पशु केवल चौपायों के लिये सीमित हो गया । धातुओं के मूल अर्थ व्यापक रूप में होते हैं किन्तु प्रत्यय आदि के योग से उनका अर्थ संकुचित हो जाता है । समास, उपसर्ग, विशेषण आदि के प्रयोग से अर्थ-संकोच सम्भव होता है ।

अर्थ-संकोच को पाश्चात्य विद्वानों ने कान्ट्रेक्शन आव् मीनिंग (contraction of meaning) के रूप में दिया है । जैसा कि पहले कहा गया है शब्द को अनेकार्थ में एकार्थता की स्थापना अथवा एक अर्थ का निश्चय करने के लिए संकोच आवश्यक होता है । सभी भाषाओं में अर्थ-संकोच की मूल प्रवृत्ति वर्तमान मिलती है । इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं । संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में 'रत्न' शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता था । इससे प्राणियों तथा विविध पदार्थों का समान बोध होता था । पालि की एक जातक में घोड़ारत्न, कम्बलरत्न आदि का उल्लेख मिलता है । अब 'रत्न' केवल आभूषण सम्बन्धित बहुमूल्य पत्थर विशेष के लिये ही प्रयुक्त होता है । संस्कृत में 'धान्य' शब्द पहले सभी धनों का बोधक था । बाद में केवल अन्न और अब धान (बिना कुटा चावल) के लिये प्रयुक्त होता है । वैदिक संस्कृत में 'मृग' शब्द सामान्य पशु के लिये व्यवहृत हुआ है । मृगेन्द्र, मृगराज में 'मृग' इसी अर्थ में है । बाद में पशु विशेष (हरिण) के लिये इसका प्रयोग कर लिया गया । 'सर्प' शब्द संस्कृत की √सृप्-रेंगना धातु से सम्बन्धित है । मूल अर्थ में यह रेंगने वाले सभी प्राणियों के लिये प्रयुक्त होता था किन्तु बाद में यह एक जन्तु विशेष के लिये सीमित हो गया । संस्कृत में रदन और नेत्र शब्द भी ऐसे हैं । धात्वर्थ में रदन-फाड़ने और नेत्र-प्रकाशित करने के अर्थ में प्रयुक्त होता था ।

अब रदन (दांत), नेत्र (आंख) मनुष्य के शारीरिक अंग-विशेषों के लिये नियत हो गये हैं ।

संस्कृत में 'अधर' शब्द का अर्थ था-नीचे वाला, बाद में यह नीचे वाले ओठ के लिये सीमित हो गया । फ़ारसी में 'मुर्ग़' का प्रयोग पक्षीमात्र के लिए मिलता है पर अब केवल एक पक्षी विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होता है । संस्कृत में 'अन्न' शब्द से पहले सभी प्रकार के खाद्य पदार्थों का बोध होता था पर अब अन्न (अनाज) के अर्थ में सीमित हो गया है। संस्कृत में अन्नप्राशन ऐसा ही शब्द है। इसका अर्थ पहले अन्न को अच्छी तरह से खाना था । अब बच्चों को अन्न शुरू कराने से सम्बन्धित एक संस्कार विशेष के रूप में प्रयोग किया जाता है । इसी प्रकार का एक शब्द 'दुर्लभ' है । इसका मूल अर्थ है-जो कठिनता के प्राप्त किया जाय । यह शब्द प्राकृत, अपभ्रंश में दुल्लह, दूलह और हिन्दी में दूल्हा, पति के अर्थ में मिलता है । सुघर दूल्हा ढूँढ़ने में भी कम कठिनाई नहीं होती । संस्कृत में 'वर' शब्द श्रेष्ठ या अच्छे अर्थ में था । अब यह भी 'दूल्हा' के अर्थ में प्रयुक्त होता है । अर्थ-संकोच के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि सभ्य और उन्नत जातियों में यह अधिक मिलता है क्योंकि वे अपने विकसित मस्तिष्क से विविध पदार्थों के लिये एक ही शब्द का प्रयोग न करके उनके लिए अलग-अलग शब्दों का प्रयोग करना अधिक समीचीन समझते हैं । कम उन्नत मस्तिष्क वाले इस प्रकार शब्दों की विविधता का विकास नहीं कर पाते । किन्तु यह निष्कर्ष सर्वथा ठीक नहीं जान पड़ता । शब्द द्वारा व्यक्त अर्थ-वैविध्य की भावना बहुत कुछ मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति की परिणाम कही जा सकती है ।

जैसा कि पहले कहा गया है भाषा में अनेक शब्दों का मूल विकास किसी विशेष संकेत के लिये होता है किन्तु बाद में वह अन्य संकेतों के लिए भी प्रयुक्त कर लिया जाता है । उसका अर्थ-विस्तार

(expansion of meaning) कर लिया जाता है। संस्कृत में 'गोष्ठ' शब्द गायों के स्थान के लिये मिलता है। कालान्तर में गोष्ठशब्द अन्य पशुओं के रहने के लिये भी व्यापक हो गया और गाय के स्थान के लिए 'गोगोष्ठ'-शब्द का विकास हुआ, 'अविगोष्ठ' भेड़ के रहने का स्थान आदि। बाद में यह मनुष्य के जमात के लिये भी अपना लिया गया जैसे कवि-गोष्ठी, साहित्यिक-गोष्ठी अर्थात् साहित्यकारों की गोष्ठी। प्रारम्भ में 'गोहार'शब्द गायोंके चुराजाने परदी गई पुकार के अर्थमें प्रयुक्त होता था, अब इसका प्रयोग कई प्रकार की पुकारों के लिये होता है। संस्कृत का 'परश्वः' शब्द आने वाले कल के बाद वाले दिन के लिये प्रयुक्त होता था। इसी का विकसित रूप 'परसों' अब न केवल इसी अर्थ में वरन् बीते हुए दिन के पूर्व वाला दिन भी परसों कहलाता है। संस्कृत 'कल्य' शब्द में ऐसा ही अर्थ-विस्तार मिलता है। प्रारम्भ में इसका प्रयोग प्रातःकाल, फिर आगामी दिन और अब पिछले दिन के लिए मिलता है। संस्कृत में 'तैल' शब्द का मूल अर्थ 'तिल का सार' था पर अब तेल शब्द केवल तिल के सार के लिये ही नहीं वरन् कई चिकने द्रव्य-पदार्थ के लिये होता है। जैसे सरसों का तेल, रेंड़ी का तेल आदि। संस्कृत में 'प्रवीण' शब्द का अर्थ है—वीणा-वादन में जो चतुर हो परन्तु अब किसी भी काम को करने की चतुरता के लिये इसका प्रयोग हो सकता है। ऐसा ही एक शब्द 'कुशल' है। इसका मूल अर्थ था-जो अपनी हानि किये बिना कुशा तोड़ लाये किन्तु अब यह अनेक कार्यों की निपुणता के लिये व्यवहृत होता है। फ़ारसी 'स्याही' शब्द आरंभ में काली स्याही के अर्थ में था। बाद में यह न केवल काली स्याही, नीली स्याही, लाल स्याही वरन् कुछ स्थानों में सफेद खड़िया का घोल भी स्याही के नाम से कहा जाता है।

इन शब्दों का अर्थ-विस्तार प्रायः शब्दों के सान्निध्य, साहचर्य के कारण हुआ है। अनेक शब्दों का मुहावरों तथा लोकोक्तियों के रूप

में प्रयोग हो जाने पर अर्थ-विस्तार हो जाता है। जैसे-तेल निकाल लेना, कंधे से कंधा भिड़ा कर चलना, गांठ पड़ जाना आदि। यहां तेल, कंधा, गांठ के मूल अर्थ का विस्तार हो गया है। आलंकारिक प्रयोगों के द्वारा भी अर्थ-विस्तार होता है। जैसे--वह पत्थर है, वह बिलकुल गऊ है, उसका शरीर लोहा है आदि। कभी कभी व्यक्तियों अथवा स्थानों के नाम का भी विस्तार हो जाता है। जैसे-सत्यवादी के लिये हरिश्चन्द्र, प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ के लिये चाणक्य, भ्रातृ-द्रोही के लिये विभीषण, जाति-द्रोही के लिये मान सिंह, झगड़ा कराने वाले के लिये नारद आदि के नाम अब भी प्रयोग किये जाते हैं। अपने इन विशिष्ट गुणों के कारण ये व्यक्ति अत्यधिक प्रसिद्ध हो गये हैं। 'गंगा' शब्द अनेक नदियों के लिये व्यवहृत होता है। लंका, विलायत आदि स्थानों का नाम अत्यधिक दूरी के लिये प्रयुक्त होता है।

शब्द का मूल अर्थ यदि निकृष्ट है तो कभी कभी वह उत्कृष्ट और उत्कृष्ट अर्थ निकृष्ट में परिणित हो जाता है। पहला 'अर्थोत्कर्ष' और दूसरा 'अर्थापकर्ष' कहलाता है। संस्कृत का कर्पट शब्द प्राकृत में कप्पड और हिन्दी में कपड़ा हो गया है। इसका मूल अर्थ जीर्णशीर्ण वस्त्र था। अब कपड़ा शब्द से सभी प्रकार के बढ़िया और घटिया कपड़े का बोध होता है। इसी प्रकार का संस्कृत में 'साहसी' शब्द है। इसका मूल अर्थ डाकू, व्यभिचारी आदि था परन्तु अब 'साहसी' अच्छा और वीरता का कार्य करने वाले व्यक्ति या तत्सम्बन्धी गुण के लिये प्रयुक्त होता है। 'साहस' उत्कृष्ट गुण का संकेत करता है। ये अर्थोत्कर्ष के उदाहरण हैं।

अनेक शब्दों के अर्थ अच्छे से बुरे हो जाते हैं। 'गुरू' शब्द अब 'चालाक' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जैसे—वाह गुरू हमी से यह दांव, 'राजा' शब्द का अर्थ भी गिर गया है, महाराज रसोई बनाने वाले या ठाकुर शब्द भी नाई-ठाकुर अर्थ में कुछ गिर गये हैं। सहवास, समागम, इन्द्रिय, लिंग, काम, वासना आदि शब्दों के अर्थ भी अब कामशास्त्र

से संबंधित हो गये हैं। 'भय्या' शब्द सं० भ्रातृ, हिं० भाई का विकसित रूप है किन्तु बम्बई, गुजरात, महाराष्ट्र में यह नौकर अथवा नीचा पेशा करने वालों के लिये प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार संस्कृत के 'पाखंडी', 'नग्न' और 'लुंचित' शब्द हैं। अशोक के समय में बौद्ध धर्म से इतर संप्रदाय के लिये पाखंड तथा जैन साधुओं के लिये पाखंडी, नग्न और लुंचित का प्रयोग किया जाता था। अब पाखंडी तथा नंगा (नग्न), लुच्चा (लुंचित) शब्द बुरे अर्थ में व्यवहृत होते हैं। 'पेशेवर' नाचने-गाने से रोज़ी कमाने वाली स्त्री के लिये प्रयुक्त होता है। अंग्रेज़ी का सिली (silly) शब्द पहले 'ऐश्वर्यशाली' अर्थ में था और अब 'मूर्ख' के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि अर्थोत्कर्ष तथा अर्थापकर्ष में अर्थ-संकोच और अर्थ-विस्तार दोनों होता है। शब्द के मुख्यार्थ का जब आमूल परिवर्तन हो जाता है तो उसे अर्थ-विपर्यय या अर्थादेश कहते हैं। अर्थ-विकास के कारणों के अन्तर्गत इसका उल्लेख हो चुका है। संस्कृत में 'कवि' शब्द का प्रारम्भिक अर्थ 'क्रान्तिदर्शी' था पर अब केवल काव्य-रचना करने वाले व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता है। संस्कृत 'दुहितृ' शब्द 'दूध दुहने वाली' लड़की के लिये प्रयुक्त होता था, अब 'दुहिता' 'कन्या' के अर्थ में प्रयुक्त होता है परन्तु दूध दुहने से उसका कोई संबंध नहीं। पहले कहा जा चुका है कि ऋग्वेद् में 'असुर' शब्द देवता के अर्थ में था, ईरानी में यही अहुर (मज्दह) के रूप में पारसियों के उपास्यदेव के लिये मिलता है। बाद में 'असुर' राक्षस के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। संस्कृत 'देव' शब्द भी प्राचीन ईरानी भाषा तथा साधारण बोलचाल की कहानियों में 'राक्षस' बन गया है। संस्कृत 'शौच' शब्द पवित्रता के अर्थ में मिलता है पर अब 'शौच' शब्द दैनिक क्रिया से सम्बन्धित हो गया है। संस्कृत 'उष्ट्र' शब्द ऋग्वेद् में पहले 'भैंसे' के अर्थ में और बाद में 'ऊंट' के लिये प्रयुक्त मिलता है। 'धन्यवाद' शब्द पहले प्रशंसा के अर्थ में व्यवहृत होता था और अब कृतज्ञता-प्रकाशन के अर्थ में प्रयुक्त

होता है । हिन्दी में 'अघाना' शब्द का अर्थ है—खूब तृप्त हो जाना। परन्तु इसका संस्कृत मूल अर्थ 'सूँघना' था। हिन्दी में 'उतावला' शब्द का प्रयोग मनोभाव से संबंधित शीघ्रता, ऊबना, चिन्ता आदि भाव के लिये होता है परन्तु मूल शब्द संस्कृत 'उत्ताप' (गर्म) अर्थ से संबंधित हैं। इसी प्रकार हिन्दी 'उधार' संस्कृत 'उद्धार' शब्द से बना है लेकिन दोनों के अर्थ में आमूल परिवर्तन हो गया है। ऐसा ही संस्कृत का 'व्रत' शब्द है। पहले वह नियम विशेष और अब हिन्दी में 'उपवास' के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

शब्दों के अर्थ-विकास के मूल में विचारधाराओं का परिवर्तन मुख्य है। जिस समय जैसी विचारधारा प्रधान होती है वैसा ही परिवर्तन शब्दार्थों में कर लिया जाता है और यह परिवर्तन अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच तथा अर्थ-विपर्यय के रूप में प्रकट होता है। भाषा के अन्य परिवर्तनों की अपेक्षा अर्थ-परिवर्तन पर मनुष्य के मनोभावों का प्रभाव अधिक दृष्टिगत होता है। पाश्चात्य तथा भारतीय सभी विद्वान इस विचार से सहमत हैं।

अर्थ-परिवर्तन मनोभावों से तो संबंधित है ही, मनुष्य की बुद्धि भी इसमें काफी योग देती है। अर्थ-परिवर्तन के रूपों में बुद्धि के द्वारा किये गये परिवर्तन अपना अलग महत्व रखते हैं। परिवर्तन में बुद्धि-की प्रधानता होने के कारण इन्हें 'बौद्धिक नियम' के नाम से भी कहा गया है।

भाषा में एक ही भाव, विचार या संबंध प्रकट करने के लिये अनेक शब्दों का प्रयोग होता है किन्तु उन शब्दों की कमी हो जाने पर कभी-कभी एक शब्द ही विशेष भाव को प्रकट करता है। शब्द को एक विशेष भाव रूप में प्रकट करने के लिये इस प्रकार का जो परिवर्तन होता है उसे विशेष भाव का नियम (law of specialisation) कहा गया है। पहले प्रत्ययों, विभक्तियों के द्वारा इन विशेष भावों को प्रकट किया जाता था। जैसे श्रेष्ठ (अच्छा) को श्रेष्ठतर (उससे-

अच्छा), श्रेष्ठतम (सब से अच्छा) रूप में कहने की प्रथा हो गई। यथा-सुन्दर, सुन्दरतर, सुन्दरतम् आदि। हिन्दी में इस विशेष भाव को प्रकट करने के लिये प्रत्यय के स्थान पर उससे बढ़िया, सबसे बढ़िया भी कहा जाता है। कम, अधिक, अपेक्षा आदि शब्दों का प्रयोग भी इसके लिये किया जाता है। अधिकता के भाव के लिये 'भी', 'और', 'और भी' शब्दों प्रयोग से भाव की विशेषता को प्रकट किया जाता है।

भाषा में विभक्ति , प्रत्यय आदि व्याकरणिक रूपों में शब्द का विभाजन इसी भाव से प्रेरित है। भाषा में प्रत्यय, उपसर्ग आदि के प्रयोग से शब्द विशेष-विशेष भावों को प्रकट करने लगता है। भाषा में व्याकरणिक नियमों का विकास अर्थ-विकास के इसी नियम के अधीन माना जा सकता है।

एक ही मूल स्त्रोत से विकसित अथवा अलग-अलग समान अर्थ वाले शब्दों में पार्थक्य करना आवश्यक होता है। उन अर्थों में परस्पर भेद रखने के लिये 'भेदीकरण का नियम' (law of differentiation) महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। ये शब्द प्रायः पर्याय रूप में जान पड़ते हैं किन्तु उनमें भाव का सूक्ष्म भेद अवश्य वर्तमान रहता है। जैसे पंडित, मुल्ला, पादरी, विद्यालय, पाठशाला, मदरसा, मक़तब, स्कूल, कालेज आदि शब्दों में अर्थ की कुछ समानता है किन्तु इनमें अर्थ-भेद भी है। 'वैद्य' शब्द से भारतीय प्राचीन चिकित्सा-पद्धति (आयुर्वेदिक), हकीम से मुसलमानी चिकित्सा-पद्धति (यूनानी) और डाक्टर से अंग्रेजी चिकित्सा-पद्धति (ऐलोपैथी) का बोध होता है। संस्कृत में 'कमल' के लिये पकज, अंबुज, कंज आदि कई शब्द थे किन्तु हिन्दी में केवल कमल या कवल ही प्रचलित हुआ। साधारण लोगों को 'देखा' जाता है और बड़े लोगों का 'दर्शन' किया जाता है। संस्कृत 'वत्स' शब्द का वच्छ, वाछा रूप बनते हैं। इसी से 'बछड़ा' शब्द बना है किन्तु 'बछड़ा' शब्द केवल गाय के बछड़े के लिये आता है। अब मनुष्य के 'वत्स' का यह पर्याय

नही है । यथा-कुत्ते का पिल्ला, भैस का पड़वा, भेड़ का मेमना आदि । 'गर्भिणी' का विकसित रूप 'गाभिन' है लेकिन 'गाभिन' का प्रयोग केवल पशु-समूह के लिये ही होता है। अभिवादन करने के लिये अनेक शब्द प्रचलित हैं । जैसे प्रणाम, नमस्कार, नमस्ते, सलाम, आदाब, बन्दगी, जयशंकर, जय गोपाल, जय राम, जय जय, पालागी, सत्त गुरु, गुड मार्निंग आदि । इन सभी में अलग अलग अर्थ की विशेषता छिपी हुई है । छोटा बड़े को या समवयस्क परस्पर एक दूसरे को, छोटी जाति वाला उच्च जाति वाले को, शिष्य गुरु को, पुजारी पुरोहित को भिन्न भिन्न ढंग से अभिवादन संबंधी शब्दों का प्रयोग करते हैं। श्रीमान्, जनाब, महाशय आदि शब्दों में भी अर्थ-भेद वर्तमान है । बिल्ली की म्याऊँ,कुत्ते की भों-भों, गौरैया (पक्षी) की चीं-चीं, कौवे का काँव-काँव, बकरी की में-में, शेर की दहाड़ आदि आवाज़ों में भेद की भावना स्पष्ट है । इस प्रकार अनेक ऐसे समानार्थी शब्दों का समूह मिलता है जिनमें अर्थ की पृथकता स्थापित कर ली जाती है। कुछ लोगों का विचार है कि उन्नत भाषाओं के शब्दों में ही अर्थ की यह पृथकता मिलती हैं ।

जब कि कोई शब्द किसी प्रत्यय आदि के योग से बुरे या अच्छा अर्थ का द्योतन करे तो वह ढंग 'उद्योतन का नियम' कहलाता है । केवल प्रत्यय के लग जाने से वे सभी शब्द इसके अन्तर्गत नहीं आते । इनसे अच्छा या बुरा अर्थ अवश्य प्रकाशित होना चाहिए । गवर्नर का गवर्नरी रूप में सीधा सादा अर्थ भी है और उससे घमंड का भाव भी निकलता है । जैसे बड़ी 'गवर्नरी' दिखा रहे हो । 'लाट' (लार्ड) का सीधा अर्थ भी है। किन्तु वह 'लाट' बना घूमता है में 'लाट' से भिन्न भाव प्रकट होता है। यदि कोई अमीर अपनी 'गरीबी' का रोना रोये तो वह इस नियम के अन्तर्गत ही आयेगा । घंटा, घंटी, पोथी, पोथी आदि शब्दों के भी प्रयोग कभी कभी इसी रूप में पाये जाते है।

पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन आर्य भाषाओं में विभक्तियों का

प्रयोग होता था। शनैः शनैः ध्वनि-परिवर्तन तथा सादृश्य के कारण उनका लोप हो गया किन्तु आधुनिक भाषाओं में उन विभक्तियों के कुछ प्रयोग अब भी प्रचलित मिलते हैं। इसे 'विभक्तियों के भग्नावशेष के-नियम' के अन्तर्गत माना गया है। हिन्दी में ऐसे कुछ प्रचलित रूप मिलते हैं। यथा—वस्तुतः, सूक्ष्मतः, अतः, हठात्, दैवात्, शनैः शनैः, त्राहिमाम् आदि। इन प्रयोगों को परंपरागत माना जा सकता है। कभी कभी वाक्य में संस्कृत पदों के विकसित रूप ज्यों के त्यों प्रयुक्त मिलते हैं। जैसे गतः7 गओ, गया, सुप्तः7 सोओ, सोया आदि। कुछ शब्द संस्कृत कृदन्त रूपों के सादृश्य पर प्रचलित हो गये हैं। यथा—सं० ज्वलन्त, सन्त आदि के सदृश हिन्दी में पढ़न्त, गढ़न्त, लड़न्त, भिड़न्त, जुटन्त, अलगन्त आदि। ग्रामीण बोलियों में कुछ ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं जिनमें संस्कृत विभक्यिों का अवशेष मिलता है। जैसे-संस्कृत की सप्तमी विभक्ति-ए-कामे, खेते, घरे आदि।

अज्ञानता के कारण भी अर्थ का विकास होता है, यह पहले बताया जा चुका है। इसे' मिथ्या-प्रतीति के नियम' के अन्तगत माना गया है। संस्कृत 'असुर' और 'सुर' शब्दों का उदाहरण पहले दिया गया है। 'असुर' का अर्थ देवता था पर बाद में 'अ' को निषेधवाचक उपसर्ग मानकर 'सुर' को देवता और 'असुर' को राक्षस के अथ में प्रयोग किया गया। हिन्दी में ऐसे अनेक प्रयोग प्रचलित हो गये हैं। पावरोटी, मलयगिरि पर्वत, विन्ध्याचल पर्वत के उदाहरण पहले दिये गये हैं। दरअसल में, गुल मेंहदी का फूल, गुलरोगन का तेल, हिमाचल पर्वत आदि में फ़ारसी दर, गुल, रोग़न का क्रमशः में, फूल, तेल अर्थ हैं किन्तु भ्रम के कारण इन शब्दों की पुनरुक्ति हो गई है। 'अब भी' के लिये 'अभी भी', 'अभी ही' आदि ऐसे ही प्रयोग हैं।

अंग्रेजी में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। पहले आक्सेन् (oxen-संस्कृत-उक्षन) एकवचन का रूप था किन्तु बहुवचन

का रूप चिल्रेन् (children) के सादृश्य के कारण इसे भी बहुवचन का रूप मान लिया गया और आक्स (ox) एक वचन का रूप बन गया। ऐसे ही अंग्रेज़ी के चेरीज़ (cherries) और पीज़ (peas) शब्द भी हैं और उनके एक वचन चेरी (cherry) और पी (pea) बन गये क्योंकि अंग्रेज़ी में-एस् (-es) या (-s)जोड़कर बहुवचन के रूप बनाये जाते हैं। इसलिये उन एकवचन रूपों को बहुवचन समझा गया और-एस् (-es, -s) रहित रूपों को एक वचन।

पद-विकास के प्रसंग में उपमान अथवा सादृश्य का उल्लेख हो चुका है। अस्पष्ट भावों को स्पष्ट और सरल बनाने के लिये सादृश्य का सहारा लिया जाता है। इसके लिये सरल और व्यापक रूपों का प्रयोग कम प्रयुक्त और कठिन स्थानों पर किया जाता है। संस्कृत की बिभक्तियों के लोप तथा द्विवचन के तिरोभाव के मूल में यही भावना रही है। संज्ञा की विभक्ति का प्रयोग सर्वनाम के लिये और सर्वनाम का प्रयोग संज्ञा के लिये इसी भाव से प्रेरित है। व्यंजनांत शब्दों का विकास स्वरान्त के सदृश और सभी स्वरान्त शब्दों को एक ही स्वरांत रूप के अनुसार ढालने में उपमान ही कारण है। भाव-प्रकाशन का यह रूप 'उपमान के नियम' के अन्तर्गत माना गया है। उपमान के कारण भाषा में जहाँ पुराने रूपों का ह्रास ही जाता है वहाँ नये नये रूपों का विशेष विशेष अर्थों में उद्भव और विकास भी होता है। आधुनिक भाषा में कृदन्तों, संयुक्त क्रिया, परसर्गो, कर्मवाच्य (passive voice), काल के विविध रूपों, क्रिया-विशेषण आदि रूपों का विकास नये भावों को स्पष्ट करने की भावना से ही उद्भूत है। इस प्रकार अनेकार्थता में एकता और एकता में अनेकार्थता की भावना के मूलाधार उपमान ही है। कुछ विद्वानों ने भाषा में नवीन प्रयोगों को 'नये लाभ' तथा रूपों के तिरोभाव को 'अनुपयोगी रूपों का विनाश' के अन्तर्गत उपमान से भिन्न रूप में माना है। किन्तु इन्हें भिन्न रूप में मानना उचित नहीं जान पड़ता। ये रूप भी उपमान के अन्तर्गत ही रखे जा सकते हैं।

शब्दार्थ क उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ का शाश्वत संबंध है। शब्दों से नये नये अर्थो की उद्भावना कभी बुद्धिगत और कभी मनोभावों से अधिकृत होती है। भाषा के परिष्कार, परिवर्धन तथा परिमार्जन में अर्थ की विशेषता निहित है। अर्थ की व्यापकता भाषा की ध्वनियों, शब्दों, रूपों आदि सभी से संबंधित है। इसीलिये अर्थहीन ध्वनि अथवा शब्द का भाषा में कोई अस्तित्व नहीं होता। भाषा के विकास के मूल में कोई न कोई प्रयोजन अवश्य रहता है और यह प्रयोजन अर्थसंबंधित होता है। भाषा के शब्द से वर्तमान काल में जो अर्थ या संकेत निकलते हैं भविष्य में भी वे वैसे ही रहेंगे, यह नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के मनोभावों तथा बुद्धि से प्रेरित वे भिन्न रूप में भी प्रकट हो सकते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि ध्वनि-परिवर्तन से भाषा का आकार-प्रकार जैसे बदल जाता है वैसे ही अर्थ-परिवर्तन से भाषा के भीतरी रूप अर्थात् उसकी अभिव्यंजना-शक्ति का विकास होता है।

——:०——

(घ) वाक्य-विचार

पदों का संयोजन वाक्य के रूप में प्रकट होता है। वाक्य में शब्दों का एक निश्चित क्रम रहता है और वे अपने इस क्रम से परस्पर सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं। किसी बात को श्रोता पर प्रकट करने के लिये हम अपनी बात को वाक्य के रूप में ही व्यक्त करते है। यह बात और है कि पूरी बात कहने के लिये हमें एक या अनेक वाक्यों का प्रयोग करना पड़े। किन्तु कोई बात वाक्य के द्वारा ही बोधगम्य होती है। शब्दों को बिखरे रूप में कही का कहीं प्रयुक्त किया जाय तो भाव-प्रकाशन संभव नहीं हो पाता। बात को समझाने के लिये उन्हें एक क्रम मे संजोना पड़ेगा। इसीलिये भाषाविज्ञानी वाक्य को भाषा का पूर्ण अवयव मानते है। यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भाषा का पूर्ण अवयव वह 'बात' है जिसे हम श्रोता पर प्रकट करना चाहते हैं किन्तु भाषा-विवेचन की सुविधा की दृष्टि से वाक्य को ही भाषा का पूर्ण अवयव मानना उचित है क्योंकि 'बात' का कोई अन्त नहीं है।

वाक्य में अर्थ-सामंजस्य भी आवश्यक होता है। शब्दों में अर्थ की दृष्टि से जो पारस्परिक संबन्ध माना जाता है उसे पारिभाषिक रूप मे आकाक्षा, आसत्ति आदि कहा गया है। वाक्य का एक शब्द दूसरे शब्द की, दूसर शब्द तीसरे की आकांक्षा रखता है क्योंकि बिना एक दूसरे की सहायता के शब्दों का अर्थ-बोध संभव नहीं। वाक्य में संज्ञा-शब्द क्रिया की और क्रिया संज्ञा की अपेक्षा रखता है। इन शब्दों में समीपता (आसत्ति) का होना भी आवश्यक है। जो शब्द जिसकी अपेक्षा रखता है वह उसके सन्निकट होना चाहिये अन्यथा अर्थ-बोध में व्याघात पड़ेगा। जैसे आधार आधेय, विशेषण विशेष्य, संबन्ध और सम्बन्धी आदि रूपों की समीपता भाव में सुस्पष्टता लाती है। वाक्य मे ऐसे ही शब्दो का

प्रयोग समीचीन होता है जो अपने सामान्य गुणों को प्रकट करते हों। इसे 'योग्यता' का नाम दिया गया है। जल का गुण शीतलता है और अग्नि का गुण ताप है। इनका वाक्य में इसी अर्थ में प्रयोग होना चाहिये। अग्नि शीतल है—यह वाक्य व्यावहारिक दृष्टि से दोषपूर्ण कहा जायेगा यद्यपि साहित्य में लाक्षणिक अर्थ के अन्तर्गत ऐसा प्रयोग किया जाने लगा है। हिन्दी के छायावादी कवियों ने उक्ति-वैचित्र्य लाने के लिये इस गुण के बंधन को आवश्यकतानुसार शिथिल कर लिया है। भावनाओं की अभिव्यक्ति का यह विशेषण-विपर्यय आलोचकों द्वारा एक अलंकार-रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

भाषाओं के वैज्ञानिक विश्लेषण के अन्तर्गत सर्वप्रथम लोगो का ध्यान ध्वनि और पद की ओर ही गया। भाषा में वाक्य-विश्लेषण के लिये तुलनात्मक रूपों की अधिक अपेक्षा है और इस प्रकार के अध्ययन के अभाव के कारण बहुत काल तक भाषा-विज्ञान का यह अंग अधिक उन्नत नही बन सका। भारतीय आचार्यो और वैयाकरणों ने प्राचीन काल मे वाक्य सबंधी विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया था। 'वाक्यपदीय' के लेखक भर्तृहरि और उनके आलोचक पुण्यराज, 'शब्द-शक्ति-प्रकाशिका' के लेखक जगदीश तर्कालिकार आदि के नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेख-नीय हैं। स्फोटवाद के अन्तर्गत वाक्य-स्फोट की विशद व्याख्या की गई है। पाश्चात्य दृष्टिकोण उससे बहुत भिन्न नही है। भारोपीय भाषाओं का सम्बन्ध आदिम भारोपीय भाषा से जोड़ा गया है किन्तु हिन्दी, तोखारी आदि भाषाओं के वाक्य-विवेचन का सम्यक् अध्ययन न होने के कारण आदिम भारोपीय का वाक्य-विश्लेपण बहुत काल तक संभव न हो सका।

वाक्य मे शब्द-क्रम के बदल जाने से भी संकेतित अर्थ स्पष्ट हो सकता है यदि शब्द का प्रयोग संलग्न व्याकरणिक चिह्न के साथ किया जाय। जैसे राम ने उस पुस्तक को श्याम से लेकर पढ़ा। यदि इस वाक्य को इस प्रकार कहें—उस पुस्तक को श्याम से लेकर राम ने पढ़ा अथवा श्याम से लेकर उस पुस्तक को राम ने पढ़ा तो अर्थ में कोई व्याघात

नहीं पड़ता। किन्तु पहले वाक्य में 'राम ने', दूसरे में 'उस पुस्तक को' और तीसरे में 'श्याम से' आदि पदों या शब्दावली पर स्पष्टतया ज़ोर दिया गया है। कभी कभी ज़ोर देने की प्रवृत्ति कथन, बलाघात के द्वारा भी प्रकट होती है। शब्द का क्रम कभी कभी अर्थ-वैचित्र्य लाने के लिये भी बदल दिया जाता है। जैसे आप बुद्धिमान हैं, आप हैं बुद्धिमान, हैं आप बुद्धिमान में क्रम बदलने के साथ अथ की बारीकी स्पष्ट है। पांडित्य-प्रदर्शन तथा व्यक्ति की सूझबूझ के कारण भी वाक्य का गठन होता है। किन्तु मनोवैज्ञानिक रूप में जिस बात पर हम अधिक बल देना चाहते हैं उस बात के द्योतक शब्द या शब्द-खंड वाक्य में अनायास पहले व्यवहृत हो जाते हैं। ने, को, से कारक-चिह्न को अपने स्थान पर-सुरक्षित रहने दिया जाय और केवल शब्द-क्रम ही बदले जांय तो अभि-प्राय बिल्कुल बदल जायेगा। वाक्य में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया आदि के प्रयोग निश्चित होते हैं। वाक्यों में इन सबके प्रयोग की संगति आवश्यक है। अयोगात्मक तथा योगात्मक भाषाओं में शब्द-क्रम बदल देने से अर्थ भले ही न बदले फिर भी उन सब में पदों के प्रयोग की एक प्रणाली है जिसका उलंघन नहीं किया जा सकता। हिन्दी के वाक्यों में क्रिया अन्त में प्रयुक्त होती है, संज्ञा आदि रूप पहले आते हैं। यह विशेषता प्रायः सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं की है। अंग्रेज़ी आदि आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में क्रिया वाक्य के मध्य में आती है। भारतीय आधुनिक भाषाओं में कारक सम्बन्धी प्रत्यय बाद में जोड़े जाते हैं और ये कारक परसर्ग (postposition) की संज्ञा प्राप्त करते हैं। किन्तु आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में इन संबन्धों के द्योतक प्रत्यय पहले जोड़े जाते हैं अतएव इनको प्रिपोजीशन (preposition) कहा गया है। वाक्य में क्रिया, संज्ञा आदि का कभी कभी व्यतिक्रम भी मिलता है। यह हिन्दी पर अंग्रेज़ी का प्रभाव है। जैसे—'मैं गया उनके पास और मैंने देखा कि वह पढ़ रहे हैं, 'वास्तव में थे वे जग रहे लेकिन पड़े ऐसे थे कि जैसे सोने का बहाना कर रहे हों।' ऐसे

वाक्य न केवल बोलने में वरन् लिखे हुये भी दृष्टिगत होते हैं। रूपों से संबंधित वाक्य जैसे मेरे मित्र ने मुझसे यह कहा कि मैं कल से कार्य आरम्भ करूँगा, लेकिन अंग्रेजी के प्रभाव से उसे इस प्रकार भी कहा जाता है—मेरे मित्र ने मुझ से कहा कि वह कल से कार्य आरंभ करेंगे। एक भाषा का दूसरे भाषाभाषियों के परस्पर संपर्क से वाक्य के गठन पर यत्किंचित विपरीत प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इस प्रकार प्रत्येक भाषा में वाक्य- विन्यास की अपनी अलग अलग विशेषताएँ हैं।

वाक्य की परिभाषा करते हुए भारतीय वैयाकरणों ने वाक्य में क्रिया, अव्यय, विशेषण, कारक आदि का अस्तित्व अथवा केवल क्रिया (तिङ्न्त) का प्रयोग स्वीकार किया है। वाक्य में अन्य पदों के होते हुए भी क्रिया की प्रधानता रहती है। किसी ने साकांक्ष पदों के समूह को, किसी ने सुबन्त अथवा तिङ्न्त पदों के समूह को वाक्य कहा है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि एक वाक्य में एक ही क्रिया हो, एक से अधिक क्रियाएँ भी हो सकती हैं। चलो, पढ़ो, बैठो आदि एक शब्द के वाक्य हैं। किन्तु क्रिया से सम्बन्धित कर्त्ता इसमें अंतर्निहित है। इनका अर्थ प्रसंग से (तुम) चलो, (तुम) पढ़ो, (तुम) बैठो लगाया जायेगा। संस्कृत में 'अस्ति'-है का आशय (सः) अस्ति से लगाया जायेगा। हिन्दी हाँ, नहीं, अंग्रेजी येस (yes), नो (no) से प्रसंग के आधार पर एक वाक्य का अर्थ निकलता है। इसमें कर्त्ता, क्रिया दोनों ही नहीं हैं। बिना क्रिया के भी वाक्य होते, हैं। संस्कृत में जैसे 'कुतो भवान्' अर्थात आप कहाँ से आ रहे हैं? 'तर्पणम्' अर्थात तर्पण करो। इन्हें शब्दात्मक वाक्य की संज्ञा दी जा सकती है, यह पहले कहा जा चुका है।

वाक्य में एक से अधिक क्रिया के होने पर एक क्रिया मुख्य होती है और अन्य क्रियाएँ सहकारी। यह मुख्य क्रिया के विशेषण के रूप में रहती हैं। जैसे-वह पढ़ते हुए जाता है में-जाता है मुख्य क्रिया है, 'पढ़ते हुए' मुख्य क्रिया का विशेषण है। वाक्य से एक ही अर्थ का बोध होता है। वाक्य में प्रयुक्त सभी पद सामूहिक रूप से एक ही अर्थ का बोध कराते

हैं। वाक्य चाहे क्रिया रहित हो या क्रिया युक्त, संज्ञा-रहित हो अथवा संज्ञा-युक्त वे एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं। वाक्य में प्रयुक्त विभिन्न पद मिलकर अपने अपने अर्थों को उस एक अर्थ में ही अपने अर्थ को तिरोहित कर देते हैं। वे यदि अलग अलग अपने अर्थ को सुरक्षित रखेंगे तो फिर वाक्य अस्पष्ट बना रहेगा। इस दृष्टि से वाक्य में मुख्य क्रिया (तिङ्न्त) की प्रधानता है। वाक्यार्थ मुख्य क्रिया से संबंधित रहता है।

वाक्यार्थ की दृष्टि से वाक्य का विभाजन आठ प्रकारों में किया गया है। विधानार्थक—जिससे किसी सामान्य कथन का बोध हो। जैसे वह पुस्तक पढ़ता है। निषेधार्थक—जिससे किसी बात का निषेध प्रकट हो। जैसे-सभी मनुष्य एक से नहीं होते। आज्ञार्थक-जिससे आज्ञा अथवा आदेश का बोध हो। जैसे-तुमको अब पढ़ना होगा। प्रश्नार्थक—जिससे प्रश्न का बोध होता है। जैसे--वह कहाँ गया ? विस्मयादिबोधक से विस्मय, आश्चर्य आदि का बोध होता है। जैसे-अरे ! तुम आ गये। इच्छार्थक—जिससे इच्छा का बोध होता है। जैसे--तुम चिरायु हो। संदेहार्थक—जिससे संदेह या संभावना का बोध हो। जैसे-वह आयेगा या नहीं आयेगा कुछ कहना कठिन है। संकेतार्थक—जिससे संकेत का बोध हो। जैसे-वह न आता तो मैं जाता।

वाक्य का गठन की दृष्टि से-'उद्देश्य' और 'विधेय' दो रूपों में विभाजन किया गया है। वाक्य में प्रतिपादित विषय उद्देश्य और उसके लिये जो विधान किया जाय वह 'विधेय' कहलाता है। जैसे-शिकारी शिकार करता है-में शिकारी, उद्देश्य है और शिकार करता है-विधेय होगा। वाक्य का भेद कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य तीन रूपों में हुआ है जिसका उल्लेख पद-विकास के प्रकरण में किया जा चुका है। अतः कर्ता को उद्देश्य और कर्म, क्रिया, अव्यय आदि को विधेय के अन्तर्गत रखा जा सकता है। भाववाच्य में क्रिया की प्रधानता होती है। अतः ऐसे प्रयोग में उद्देश्य क्रिया में ही निहित रहता है।

वाक्य में संज्ञा, सर्वनाम और अनुकूल क्रिया का प्रयोग अथवा वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के व्याकरणिक रूपों में ऐक्य का होना आवश्यक है। इसे वैयाकरणों ने 'अन्वय' के नाम से दिया है। भाषा में व्याकरणिक प्रयोगों के रूप इतने रूढ़ि हो गये हैं कि उनका पालन यदि न किया जाय तो भी वाक्यार्थ के बोध में बाधा हो सकती है। हिन्दी की विशेषता है कि संज्ञा के लिंग, वचन, कारक के अनुसार ही क्रिया का रूप वाक्य में व्यवहृत होता है। जैसे युवक शारीरिक श्रम करता है, युवती शारीरिक श्रम करती है। इसी प्रकार सर्वनाम के पुरुष, वचन, लिंग के अनुसार क्रिया का रूप बनाया जाता है। यथा-वह जाता है, वे जाते हैं आदि। अतएव व्याकरणिक रूपों में ऐक्य का होना वाक्य-रचना की एक मुख्य विशेषता है। वाक्य में अपेक्षित अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग ही वांछनीय होता है। ऐसे शब्दों का प्रयोग जो एक दूसरे के सापेक्ष नहीं है या अर्थ की दृष्टि से परस्पर संबंधित नहीं है वे वाक्य में एक साथ प्रयुक्त नहीं हो सकते। जैसे-लड़का पढ़ता है, घोड़ा हिनहिनाता है। इसे लड़का हिनहिनाता है, घोड़ा पढ़ता है-रूप में रखा जाय तो दूसरे वाक्य में शब्दों की संगति नहीं बैठती। इस पर वाक्य की योग्यता के प्रसंग में विचार किया जा चुका है।

वाक्य का विभाजन साधारण-वाक्य, मिश्र-वाक्य तथा संयुक्त-वाक्य के नाम से भी किया गया है। वाक्य की संयोजना में अंग्रेज़ी प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। जैसे—राम ने उस पुस्तक को जो कि मेज पर रखी थी, उठा लिया। वाक्य में पदों का इस प्रकार का गठन अंग्रेज़ी विचार-पद्धति का परिणाम है। हिन्दी-पदावली की संयोजना इस प्रकार होगी-राम ने उस पुस्तक को उठा लिया जो कि मेज पर रखी थी। विशेषण उपवाक्य हिन्दी में बिल्कुल बाद में आया है। अपने विशेषण के सन्निकट वह नहीं होता जैसी कि अंग्रेज़ी की प्रथा है।

३

भाषा-वर्गीकरण के सिद्धान्त तथा भारतीय भाषाएं

भाषा समाज-सापेक्ष होती है, यह पहले कहा जा चुका है। भाषा के प्रत्येक शब्द और रूप-गठन पर समाज की छाप लगी होती है। भाषा और मनुष्य-समुदाय के इसी घनिष्ट सम्बन्धतथा उनकी पारस्परिक समानता और भिन्नता के आधार पर भाषाओं को अनेक परिवारों में बाँटा गया है। यद्यपि मनुष्य और भाषा का यह औपचारिक प्रयोग पूर्णतया युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता किन्तु इससे भाषा के मूल स्रोत तथा विकास की जानकारी सहज अवश्य हो जाती है। संसार में जैसे मनुष्य जनमता है, बढ़ता है और मिट जाता है वैसे ही भाषाओं का भी उदय होता है, विकास होता है और उनका लोप हो जाता है। ऐसी अनेक भाषाओं के उल्लेख मिलते हैं जिनका प्राचीन काल में प्रयोग होता था, उनमें साहित्य-सृजन भी हुआ किन्तु उनके बोलने वाले आज नहीं पाये जाते।

प्राय: भाषा की ध्वनियां और शब्द ही उसके परिचित रूप का बोध कराते हैं। भाषा की ध्वनियां तथा शब्द कर्ण-कुहरों में प्रवेश करके अपने पूर्व परिचित होने की पुष्टि जब तक करते रहते हैं तब तक भाषा की साधारण पृथकता खटकती नहीं, लेकिन ज्यों ही भाषा की ध्वनियां और शब्द कानों को अपने अर्थ का सम्यक् बोध नहीं करा पाते भाषा की

पृथकता स्पष्ट हो जाती है। मनुष्य का यह प्रयास होता है कि वह अपनी व्यक्तिगत मानसिक प्रक्रियाओं का प्रयोग भाषा में तभी तक करे जब तक कि वह श्रोता के लिये बोधगम्य बना रहता है। वक्ता और श्रोता मे पारस्परिक बोधव्यता (mutual intelligiblity) की भावना भाषा को एक-रूप बनाये रखने में समथ होती है। भाषाओं की स्थानीय समीपता से उनकी पारस्परिक समानता के भाव का उदय होता है। यद्यपि यह सदैव आवश्यक नहीं है कि स्थानीय समीपता के कारण भाषाएं समान ही हों और स्थानीय दूरी के कारण वे भिन्न ही हों। भाषाओं के प्रचार और प्रसार में अन्य कारण भी बराबर योग देते रहते हैं। इसके लिये देश और जातियों के इतिहास, व्यवसाय आदि की जानकारी भी आवश्यक होती है। भारतवर्ष के दक्षिण भाग की भाषाएं आर्य भाषाओं से भिन्न द्राविड़ परिवार की है किन्तु यूरोप की भाषाएं इतनी दूर होते हुए भी आर्य-भाषा कुल की ही हैं।

पारिवारिक वर्गीकरण के अंतर्गत अनेक भाषाओं का मूल स्रोत किसी एक प्राचीन अनुमानित भाषा से जोड़ा जाता है। भाषा का शब्द-समूह उसका महत्वपूर्ण अंग है। शब्दों की समानता और भिन्नता भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध-निर्धारण करने में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई है। आदिम काल से लेकर अब तक मनुष्य-समुदाय शब्दों का प्रयोग करता चला आया है। यह ठीक है कि राष्ट्रीय चेतना या सभ्यता के अनुरूप भाषाओं का शब्द-समूह बनता-बिगड़ता रहता है लेकिन बहुत से जन-सामान्य प्रयोग वाले शब्द प्राचीन काल में भी थे और आज भी उनका वैसा ही प्रयोग होता है।

भाषा के शब्द-समूह का दो मुख्य विभाजन-देशी और विदेशी किया जा सकता है। एक देश के रहने वाले लोगों का अपने विभिन्न प्रदेशों तथा अन्य देशों के लोगों से सम्पर्क होने पर उनमें शब्दों का परस्पर आदान-प्रदान स्वाभाविक है। यहाँ पर देशी शब्दों का आशय भाषा के अपने शब्द से है जिसका सम्बन्ध किसी अन्य परिवार के

शब्दों से नहीं होता। किन्तु देशी शब्द संकुचित अर्थ में भी लिया जाता है। अनुरणनात्मक तथा वे शब्द जो अपनी परम्परा का निर्देश नहीं करते 'देशी' कहे जाते है। विदेशी शब्द भिन्न समुदाय के होते हैं। वे दो देशों या जाति के सम्पर्क के परिणामस्वरूप भाषा में स्थान प्राप्त करते हैं। राजनीतिक, धार्मिक, व्यावसायिक कारणो से विदेशी शब्द किसी भाषा में घुलमिल अवश्य जाते हैं परन्तु उस भाषा की ऐतिहासिक परम्परा बताने में वे अनुपयोगी सिद्ध होते हैं। भाषा के ऐतिहासिक रूप को ऐसे शब्द ही प्रकट करते हैं जिनके विकास की परम्परा होती है। इन शब्दों को 'तद्भव' कहा गया है। भारतीय आर्य भाषाओं-हिंदी, बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि में ऐसे समानार्थी शब्दों की प्राचीन परम्परा मिलती है। इन्हें संस्कृत-भाषा से सम्बन्धित किया गया है।

ध्वनियों की और व्याकरणिक गठन की समानता से भाषा के पारिवारिक वर्गीकरण की पुष्टि हो जाती है। केवल शब्दों की समानता से भाषा के ऐतिहासिक रूप का पूरा-पूरा निश्चय नहीं हो पाता क्योंकि ये संबंध आकस्मिक भी हो सकते हैं। भाषाओं के ऐतिहासिक सम्बन्धों की चर्चा १७वीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गई थी परन्तु उसके वैज्ञानिक विवेचन की परम्परा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा तब प्रारम्भ हुई जब उन्हें संस्कृत के अतुलित एवं युगव्यापी साहित्य की जानकारी सम्भव हो सकी।

पाश्चात्य विद्वान सर विलियम जोन्स ने १८वीं शताब्दी के अन्त में यह स्पष्ट किया कि संस्कृत भाषा ग्रीक और लेटिन के सदृश सम्पन्न, महत्वपूर्ण और उन्नत भाषा है और इन सब का मूलस्रोत किसी एक प्राचीन भाषा से सिद्ध होता है। भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का आरम्भ भी तभी से माना जा सकता है। भारतीय प्राचीन व्याकरण को आदर्श माना गया क्योंकि यूरोप अथवा अन्य किसी देश की भाषा इतनी पूर्ण और नियमबद्ध नहीं थी। आरम्भ में लोगों ने यही विश्वास किया कि संस्कृत यूरोपीय भाषाओं की जननी है किन्तु बाद में यह स्पष्ट हुआ

कि संस्कृत, यूरोपीय आदि भाषाओं का मूलस्रोत किसी एक आदिम आर्य-भाषा से है। इन सब भाषाओं में बहनवत् सम्बन्ध का निर्धारण किया गया। ईरानी, आर्मीनी, अल्बानी भाषाओं का भी भारोपीय भाषाओं से सम्बन्ध स्थापित हुआ। इस प्रकार भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की नींव पड़ी। भाषाओं की ध्वनियों और व्याकरणिक विशेषताओं के आधार पर उनमें ऐतिहासिक सम्बन्ध जोड़ा गया। इनमें शब्दों की समानता, स्थानीय समीपता आदि विशेषतायें सहायक सिद्ध हुईं। उनका विभाजन विविध परिवारों के रूप में किया गया।

इस प्रकार का एक परिवार आर्य अथवा भारोपीय है जिसकी भाषाएं अनुमानित आदिम आर्य-भाषा से उद्भूत मानी गईं। यथा-संस्कृत-मातृ, ईरानी-मादर, प्राचीन जर्मन-मतेर, आर्मीनी-मैर, ग्रीक-मेतेर, लेटिन-मातेर, प्राचीन आयरी-माथिर, स्लावी-मति आदि। इन सब का सम्बन्ध अनुमानित आदिम आर्य भाषा के *मेतेर (*mēter) शब्द से जोड़ा गया। इसी प्रकार संस्कृत पितृ, ईरानी-पिदर, ग्रीक-पेतेर, लैटिन-पतेर, प्राचीन जर्मन-फ़ादेर (अंग्रेजी-फ़ादर), संस्कृत-भ्रातृ, ईरानी विरादर, ग्रीक-फ्रातेर, लैटिन-फ्रातेर, प्राचीन जर्मन-ब्रुदेर (अंग्रेज़ी-ब्रदर) आदि। संस्कृत-मधु, ईरानी-मधु, ग्रीक-मेदु, लेटिन-मेदु, लिथुएनी-मीदुस आदि। संस्कृत-दश, ईरानी- दस, ग्रीक-देक, लेटिन-देसेम्, जर्मन-ज़ेहन्, आर्मीनी-तस्न, गॉथी-तइहुन, स्लावी-देसेतु। इनका सम्बन्ध आदिम आर्य *देकोम् या *देक्म् से जोड़ा गया है। शब्दों की समानता ध्वनियों को स्पष्ट कर देती है। उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि आदिम आर्य की 'द' ध्वनि ग्रीक, लैटिन में-द, भारत-ईरानी में-द, प्राचीन जर्मन में-त, -त्स (ज़) आदि रूपों में मिलती है।

भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि बहुत सी भाषाओं में ध्वनियों और व्याकरणिक रूपों की समानता नहीं मिलती। शब्दों की समानता का भी अभाव मिलता है तथा केवल उधार लिए हुए कुछ शब्द ही समान होते हैं। शब्दों के क्रम, वाक्य के गठन आदि में

भी समानता नहीं है। ऐसी दशा में उन भाषाओं को अलग-अलग समुदायों में रखना समीचीन होता है।

भाषाओं के वर्गीकरण के लिए पर्याप्त सामग्री का होना आवश्यक है। कभी कुछ भाषाओं के कतिपय शब्द ही उपलब्ध होते हैं जो केवल शिलालेखों अथवा सिक्कों पर अंकित है और वह भी विकृत रूप में। ऐसी दशा में भाषाओं का लोप हो जाने पर केवल कुछ उदाहरणों से उनका समुचित वर्गीकरण निश्चित रूप मे सम्भव नहीं हो पाता। भाषाओं की उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के नियमित ज्ञान के अभाव के कारण भी वर्गीकरण में कठिनाई होती है। उदाहरण के लिए सुमेरी की प्राचीनतम सामग्री ४००० ई० पू०, मिस्र देश की ३५०० ई० पू०, सामी और चीनी की २५०० ई० पू०, आर्य या भारोपीय की १५०० ई० पू०, तिब्बती-बर्मी की ९०० ई०, तुर्की की ८०० ई०, द्राविड़ की ५०० ई० तथा अनेक एसी जापानी, अफ्रीकी, अमरीकी भाषाएं हैं जिनके लिपिबद्ध रूप अर्वाचीन काल के ही हैं। साथ ही किसी एक परिवार की अनेक भाषाओं का समुचित विकास भी समान रूप मे नही पाया जाता।

इसके अतिरिक्त शब्दों के आदान-प्रदान से भी वर्गीकरण में एक कठिनाई होती है। आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि प्रभावों के कारण भाषाओं का स्वरूप थोड़ा बहुत बदलता रहता है। आर्मीनी भाषा-समुदाय में ईरानी भाषा के शब्दों के अत्यधिक प्रयोग होने के कारण बहुत काल तक उसे ईरानी-समुदाय के अन्तर्गत माना जाता रहा। लेकिन बाद में यह गलत प्रमाणित हुआ। उर्दू भाषा के सम्बन्ध में भी यही सन्देह हो सकता है क्योकि उसमें फ़ारसी की शब्दावली प्रधान है। किन्तु वास्तव मे ऐसा नहीं है। वह अपने व्याकरणिक गठन के कारण हिन्दी के अन्तर्गत ही मानी जाती है।

संसार की समस्त भाषाओं की न तो अभी तक खोज ही हुई है और न उनका पूर्ण अध्ययन ही सम्भव हो सका है। अतएव भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान अभी अधूरा है। फिर भी भाषाओं का

अध्ययन जितना सम्भव हो सका है उसके अनुसार उनका पारिवारिक विभाजन एक मान्य सिद्धान्त है। आर्य, चीनी, सामी, हामी, द्राविड़, बांटू, आस्ट्री, यूराल-अल्ताई आदि ऐसे ही परिवार हैं।

भाषाओं के वर्गीकरण का दूसरा आधार वाक्य के गठन से संबधित है। भाषाओं की बनावट देखने से ज्ञात होता है कि उनके दो रूप प्रधान हैं-एक अयोगात्मक(isolating)है और दूसरा योगात्मक(agglutinating)। अयोगात्मक में अर्थतत्त्व (प्रकृति) और सम्बन्ध तत्त्व (प्रत्यय) की सत्ता अलग अलग होती है, उनका योग नहीं होता और योगात्मक में दोनों तत्त्वों का योग रहता है। दोनों की सत्ता कभी अलग अलग स्पष्ट रहती है और कभी उनका एक दूसरे में लोप हो जाता है। अयोगात्मक भाषाओं में चीनी परिवार की भाषाएं प्रमुख हैं। उनमें संज्ञा, क्रिया, विशेषण, क्रिया-विशेषण आदि जैसे शब्द के व्याकरणिक रूपों में कोई निश्चित अन्तर नहीं किया जाता। एक ही शब्द सुर-भेद और स्थान-क्रम के अनुसार किसी भी व्याकरणिक रूप को प्रकट कर सकता है। उदाहरण—त जिन-बड़ा आदमी, जिन त-आदमी बड़ा है, हुआ पओ मीन-राजा प्रजा की रक्षा करता है,मीन पओ हुआ–प्रजा राजा की रक्षा करती है।

योगात्मक भाषाओं का एक रूप ऐसा भी है जिसमें सम्बन्ध-तत्त्व शब्द के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में इस प्रकार जुड़ता है कि दोनों तत्त्वों को अलग अलग स्पष्ट किया जा सकता है। इन्हें पूर्व-अश्लिष्ट, मध्य-अश्लिष्ट और अन्त-अश्लिष्ट के नाम से माना गया है। अफ़ीका की बांटू परिवार की भाषाएं क्रमशः प्रथम, मुंडा (आस्ट्रीक परिवार) की भाषाएं द्वितीय, तुर्की (यूराल-अल्ताई) तथा द्राविड़ परिवार की भाषाएं तृतीय कोटि की हैं। बांटू–न्तु-मनुष्य, उमुन्तु- एक मनुष्य, अबन्तु-अनेक मनुष्य, मुंडा—मंझि-मुखिया, मपंझि (मुखिया-गण), तुर्की—सेव्-प्रेम करना-सेव्मेक्-परस्पर प्रेम करना, सेव्एर-प्रेमी, सेवएरिम-मैं प्रेम करता हूँ, सेव्-में-मेक्-प्रेम न करना, सेव-दिर-मेक्-प्रेम कराना आदि; एव-घर, एवलेर-अनेक घर, ऐवदेन्-घर से, एवलेरदेन्-घरों से।

योगात्मक भाषाओं के दूसरे प्रकार में अर्थतत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व के योग होने पर अर्थतत्त्व के मूल रूप में परिवर्तन हो सकता है। दोनों तत्त्वों की पृथकता पूर्ण स्पष्ट नहीं रहती। इन्हें श्लिष्ट योगात्मक कहा गया है। प्राचीन आर्य और सामी परिवार की भाषाएं इसी कोटि की है। यथा-संस्कृत अस्ति (वह है), ग्रीक-एस्ति, लेटिन-एस्ति, स्लावी-जेस्ति; संस्कृत-असि (तू है), ग्रीक-एसि, लेटिन-एसि, स्लावी-जेस्सि; संस्कृत–अस्मि (मैं हूँ), ग्रीक-एइमि, लेटिन-सुम, गाथी-इमि, अंग्रेज़ी एम, लिथुएनी-एस्मि, स्लावी-जेस्मि आदि। प्राचीन आर्य भाषाओं के संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि रूपों के अन्त में विभक्तियां जुड़ती थीं। आधुनिक आर्य भाषाओं में कारक-चिह्न और प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। अरबी, हिब्रू आदि भाषाओं में भी विभक्तियां जुड़ती हैं लेकिन विभक्तियां अर्थतत्त्व के बीच में जुड़ती हैं, प्राचीन आर्य भाषाओं की भांति अन्त में नहीं। इस दृष्टि से ये भाषाएं अन्तर्विभक्ति प्रधान और आर्य भाषाएं वहिर्विभक्ति प्रधान भाषाएं कहलाती हैं। जैसे अरबी-क़्तूब्-लिखना, क़ातिब-लिखने वाला, मक़तब-जहाँ लिखा जाय, यक़्तुबु- वह लिखेगा, अक़्तुबु-मैं लिखूंगा, यक़्तुबून-वे लिखेंगे, नक़्तुबु-हम लिखेंगे आदि।

योगात्मक भाषाओं के तीसरे प्रकार में अर्थतत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व मिलकर एक ईकाई से प्रतीत होने लगते हैं। दोनों की पृथक सत्ता का बिल्कुल लोप हो जाता है। वाक्य एक बड़ा शब्द सा बन जाता है। इन्हें प्रश्लिष्ट योगात्मक (polysynthetic) कहा गया है। यथा-अमरीका की एस्किमो भाषा-तकुसरइअर्तोरउमगलुअर्नेर्पअ-क्या तुम सोचते हो कि वह उसे देखने के लिए वास्तव में जाना चाहता है ? अमरीका की ग्रीनलैंड की भाषा का एक उदाहरण है-अउलिसरि अर्तोरसुअर्पोक-वह मछली मारने के लिए जल्दी जाता है। इनमें कई वाक्यों के अंश मिलाकर एक वाक्य बनाया जाता है। पहले का विश्लेषण इस प्रकार होगा- तकुसर्-वह उसमें अपने को व्यस्त करता है, इअर्तोर-वह जाता है, उम-वह चाहता है, जलुअ- वह करता है, नेर्प-अ-क्या तुम सोचते हो वह। दूसरा

वाक्य है-अउलिसर (मछली मारना), पेअर्तोर (काम में लगाना) येन्नुसुअर्पोक (वह जल्दी करता है) ।

भाषाओं के इन भेदों से यह निष्कर्ष निकलता है कि अयोगात्मक भाषाएं सर्वप्रथम योगात्मक थीं और कालान्तर में अयोगात्मक हो गईं अथवा अर्वाचीन योगात्मक भाषाएं अयोगात्मक थीं और बाद में योगात्मक बन गईं। बाद वाला कथन बहुत समीचीन नहीं जान पड़ता। विद्वानों का अनुमान है कि प्रारंभिक अवस्था की भाषाएं योगात्मक होती हैं और धीरे-धीरे उनका विकास अयोगात्मक रूप में हो जाता है जैसा कि आर्य परिवार की भाषाओं के सम्यक् विकास से सिद्ध होता है। यूरोप की ग्रीक, लेटिन, गॉथी, स्लावी, ईरान की प्राचीन फ़ारसी, अवेस्ती, भारत की संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाएं योगात्मक थीं किन्तु आज यूरोप की फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेज़ी, रूसी आदि, ईरान की अर्वाचीन फ़ारसी, पश्तो, बलूची आदि, भारत की हिन्दी, बंगला, मराठी, पंजाबी आदि भाषाएं अयोगात्मकता के अत्यधिक निकट हैं। अमरीका के मूल निवासियों की भाषाओं का गठन प्रश्लिष्ट योगात्मक है। उनकी भाषाओं में अभी तक कोई स्पष्ट रूप से विकास नहीं हुआ है। अनुमान है कि विकसित होने पर इनका यह रूप न रह जायेगा। भाषा के गठन में इस प्रकार का परिवर्तन होता रहता है। उनका रूप निश्चित नहीं है इसलिए कुछ विद्वानों के मत में भाषाओं के वर्गीकरण का केवल एक निश्चित आधार है और वह है—ऐतिहासिक अथवा पारिवारिक वर्गीकरण।

आर्य-भाषा परिवार और हिन्दी

पहले उल्लेख हो चुका है कि विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण उनकी आकृति तथा ऐतिहासिक सम्बन्ध के आधार पर किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति भाषा के प्रयोग में अपनी-अपनी विशेषता को सन्निहित कर देता है। इस दृष्टि से संसार में जितने मनुष्य हैं उतनी ही भाषाएं भी कही जा सकती है। प्रत्येक व्यक्ति की मनोवृति एक दूसरे

से भिन्न होती है और भाषा का प्रयोग करते समय अपनी मनोवृत्ति के अनुसार उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन कर लेना स्वाभाविक ही है। किन्तु भाषा-वर्गीकरण में इतना सूक्ष्म अध्ययन संभव नहीं होता। संसार की ज्ञात भाषाओं का विभाजन कुलों के रूप में हुआ है यह पहले बताया गया है। समान आकृति तथा समान शब्दों वाली भाषाओं को एक कुल तथा भिन्न आकृति और भिन्न शब्दावली से संबंधित भाषाओं को दूसरे कुल के अन्तगत रखा गया है। कुलों अथवा परिवारों के रूप में भाषाओं के विभाजन की परम्परा नई तथा वैज्ञानिक अवश्य है यद्यपि कुछ भाषाएं ऐसी भी हैं जिनको विशेषताओं की दृष्टि किसी परिवार-विशेष से संबंधित नहीं किया जा सकता। उनका एक स्वतन्त्र समुदाय मानना ही युक्तिसंगत है। किन्तु ऐसी भाषाओं की संख्या कम ही है। प्राचीन भाषाएं सुमेरी, मित्तानी, एत्रुस्कन आदि तथा आधुनिक भाषाएं जापानी, कोरियाई, बास्क आदि इसी कोटि की भाषाएं हैं।

संसार के भाषा-परिवारों में आर्य (भारोपीय) परिवार सबसे अधिक संवृद्ध और उन्नत माना गया है। इस परिवार की भाषाओं को केंतुम् और सतम् दो वर्गों में बाँटा गया है। सन् १८७० ई० मे ऐस्कोली (Ascoli) नामक पाश्चात्य विद्वान ने यह स्थिर किया कि आदिम आर्य भाषा की कन्ठ्य तालव्य ध्वनियाँ क, ख, ग, घ कुछ भाषा-समूहों में तो सुरक्षित रहीं और कुछ में उनका परिवर्तन ऊष्म स, श मे हो गया। इस विभाजन का आधार विविध आर्य भाषाओं में 'सौ' की संख्या के लिए प्रयुक्त शब्द-विशेष को माना गया। आदिम आर्य भाषा में यह *क्मृतोम् शब्द रहा होगा जिसके आधार पर लेटिन में इसके लिए केन्तुम् (centum) और ईरानी (अवेस्ती) में सतम् (satəm) शब्दों का विकास मिलता है। केन्तुम् एक भाषा-वर्ग का और सतम् दूसरे भाषा-वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। केन्तुम् के अन्तर्गत केल्टी, इटाली, जर्मन, ग्रीक, ह्त्ति‍ाइत और तोखारी एवं सतम् के अन्तर्गत अल्बानी, आर्मीनी, स्लावी तथा हिन्दा-ईरानी भाषा-समूहों की गणना की जाती है। किन्तु

आदिम आर्य भाषाओं में यह भेद प्रारम्भ से ही रहा होगा यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पहले केन्तुम् को पश्चिमी और सतम् को पूर्वी भाषा-वर्ग माना जाता था किन्तु इसी शताब्दी में जब से पूर्व में मध्य-एशिया की एक भाषा तोखारी और एशियामाइनर की हित्ताइत पश्चिमी गठन की सिद्ध हो गईं तब से केन्तुम् वर्ग को केवल पश्चिमी भाषा-समूह के रूप में ही स्वीकार नहीं किया जाता।

केल्टी (Celtic) भाषाओं का क्षेत्र प्राचीन काल में काफी विस्तृत था। अब इनका विस्तार केवल आयर्लैंड, स्कॉटलैंड, वेल्ज, कार्नवाल प्रदेशों में मिलता है। केल्टी के तीन समूह-गौली (Gaulic) गोइडेली (Goidelic) और ब्रिथोनी (Brythonic) हैं। दूसरे समूह की भाषाएं आइरी, स्काच और गैली तथा तीसरे समूह की भाषाएं वेल्श, ब्रिटन और कार्निश हैं। इग्लैंड में प्रचलित अंग्रेजी भाषा इस वर्ग की नहीं है, वह जर्मन-समूह की है जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

आयर्लैंड के स्वतन्त्र होने के बाद से ही वहाँ की प्राचीन भाषा आयरी (गैली) का पुनरुद्धार किया गया है तथा उसे राष्ट्रीय प्रोत्साहन से विकसित किया जा रहा है। गैली भाषा के प्राचीन नमूने ५वी शताब्दी के शिलालेखो में मिलते है।

इटाली-भाषाओं के तीन समुदाय लेटिन, आस्को-उम्ब्रियन तथा सेबिलियन है। इनमे लेटिन सबसे संवृद्ध समुदाय था। लेटिन-भाषा के कई रूपों का उल्लेख मिलता है। इसके दो मुख्य भेद शिष्ट अथवा साहित्यिक और लोकसामान्य है। इस लोकरूप से ही रोमन्स् भाषाओं का विकास हुआ जिनमें इटाली (इटली, सिसली, कार्जिका का भाषा-समूह), रूमानी, प्रोवेंशल, फ्रेंच, पुर्तगाली, स्पेनी, सार्डीनी आदि मुख्य हैं। ये भाषाएं अपने-अपने देशों में प्रचलित होने के अतिरिक्त जहाँ जहाँ इन देशों का प्रभुत्व हुआ वहाँ भी वे प्रवेश कर गईं। भारत के कुछ भागों में फ्रेंच, पुर्तगाली तथा अमरीका, अफीका के कुछ भागों में इटाली, फ्रेंच, पुर्तगाली, स्पेनी

आदि भाषाओं का प्रयोग किया जाता है। लेटिन और संस्कृत में काफी समानता है इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

जर्मन-समूह की भाषाएं 'ट्यूटानी' भी कही जाती हैं। इसके तीन भेद-उत्तरी, पूर्वी और पश्चिमी हैं। उत्तरी के अन्तर्गत प्राचीन भाषा की गणना की जाती है। ११वीं शताब्दी से इसका विभाजन पश्चिमी और पूर्वी दो रूपों में हुआ। पश्चिम के अन्तर्गत आधुनिक भाषाओं में आइसलैंड की आइसलैंडी, नार्वे की नार्वेज़ी तथा पूर्वी के अन्तर्गत स्वीडेन की स्वीडी और डेनमार्क की डेनी मुख्य हैं। पूर्वी समुदाय की प्राचीन भाषा गॉथी है। पश्चिमी भेद की तीन शाखाएं-अंग्रेज़ी, फ्रेंच, जर्मन और डच हैं। अंग्रेज़ी भाषा का नाम आंग्ल (Angel) जाति के नाम पर प्रचलित हुआ। पांचवीं, छठी शताब्दी में इस जाति ने सैक्सन, ज्यूट आदि जातियों के साथ ब्रिटेन पर आक्रमण किया और वहाँ का शासक होने पर उनकी भाषा 'इंगलिश' के नाम से प्रचलित हुई। जर्मन का विभाजन-उच्च जर्मन (High German) और निम्न जर्मन (Low German) दो रूपों में हुआ। उच्च रूप जर्मनी के दक्षिणी और पहाड़ी भाग और निम्न उत्तरी तथा निचले भाग में बोले जाते हैं। जर्मन भाषा से संबंधित ध्वनि-नियम का उल्लेख पहले अध्याय में किया जा चुका है। डच भाषा का प्रयोग हालैन्ड में होता है।

ग्रीक भाषा-समूह के अन्तर्गत अनेक बोलियां हैं जिनमें डोरिक, एओलिक, आयोनिक, एटिक, मैसीडोनी आदि मुख्य हैं। प्राचीन ग्रीक में होमर के दो उत्कृष्ट महाकाव्य इलियड (Eliad) और औडेसी (Odessey) प्रसिद्ध हैं। आधुनिक ग्रीक 'एटिक' बोली का विकसित रूप है। ग्रीक और संस्कृत भाषाओं के रूप काफी मिलते-जुलते हैं यह पहले कहा ही जा चुका है।

तोखारी भाषा-समूह का अन्वेषण मध्यएशिया में २०वीं शताब्दी के आरम्भ में कतिपय जर्मन विद्वानों के द्वारा किया गया। इस भाषा के दो प्रधान रूप माने गये हैं—एक करशर के चारों ओर का पूर्वी और दूसरा

कूच के चारों ओर का पश्चिमी। इन्हें अग्नियन, कूचियन, तूफ़ानियन, नामों से विभाजित किया गया है। पूर्वी रूप तोखारी, ग्रीक के करशयिन 'तोखारोह', भारतीयों के 'तुखारा', चीनियों के 'तुहुल' से संबंधित है। इसलिए इसे तोखारी समुदाय के नाम से कहा जाता है। इस भाषा-समुदाय पर संस्कृत-भाषा का प्रभाव भी पड़ा है।

हित्ताइत भाषा-समुदाय का अन्वेषण २०वीं शताब्दी के आरम्भ में एशियामाइनर के बोगज़कोई स्थान में हुआ। यह नाम हित्ताइत जाति के शासन-काल में उनकी राजधानी 'हत्ती' के नाम पर रखा गया माना जाता है। कतिपय विद्वान हित्ताइत को आर्य--परिवार का एक भाषा-समूह न मानकर एक स्वतन्त्र भारत-हित्ताइत परिवार के रूप में मानना उचित समझते हैं। किन्तु भाषा-गठन की अधिकांश विशेषताओं की दृष्टि से इसे आर्य-परिवार से स्वतन्त्र नही माना जाता। इसमे आर्य परिवार के सदृश संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि के रूप मिलते है। हित्ताइत का शब्द-समूह अवश्य कुछ भिन्न है क्योंकि इस पर आर्येतर भाषा के शब्दों का काफी प्रभाव पड़ा है। अधिकांश शब्द-समूह आर्येतर भाषाओं से ही संबंधित है। इसमें कुछ ध्वनियां भी नई हैं जो आर्य-भाषा में नहीं मिलतीं। कतिपय ध्वनियों और शब्द-समूह की पृथकता होते हुए भी भाषा की व्याकरणिक विशेषताओं के आधार पर यह आर्य-परिवार का एक भाषा-समूह माना जाता है।

आर्मीनी भाषा-समूह को आर्य-परिवार का एक स्वतन्त्र भाषा-समूह न मानकर भारत-ईरानी भाषा-समूह की एक शाखा के रूप में माना जाता था क्योंकि आर्मीनिया का ईरान से घनिष्ठ सम्बन्ध था। आर्मीनी में फ़ारसी के दो हज़ार से अधिक शब्द मिलते हैं किन्तु भाषा-गठन की दृष्टि से अब इसे आर्य-परिवार का एक स्वतन्त्र भाषा-समूह माना जाता है। यह ग्रीक और काकेशी भाषाओं से भी सम्बन्धित है। इसमें ५वीं शताब्दी का बाइबिल का अनुवाद मिलता है। इस भाषा की बोलियों का उद्भव १२वीं शताब्दी से माना गया है। आज कल

इसका केन्द्र काकेशश पर्वत का दक्षिणी भाग है। वाक्य-रचना पर तुर्की का प्रभाव अधिक है।

अल्बानी की कई बोलियां प्रचलित मिलती है। शुम्बी नदी के उत्तर में गेग (Geg) और दक्षिण में टोस्क् (Tosk) का व्यवहार होता है। भाषा-गठन तथा ध्वनि सम्बन्धी विशेषताओं की दृष्टि से यह आर्य-परिवार के अन्तर्गत है यद्यपि शब्द-समूह विदेशी भाषाओं से अधिक सम्बन्धित है। इसका अधिकांश साहित्य १७वीं शताब्दी से मिलता है। इनमें लोक गीतों की प्रचुरता है। यह केंतुम् समूह की प्राचीन इलीरियन तथा थ्रेसोफ़ीजी भाषा से भी सम्बन्धित मानी जाती है।

बाल्टोस्लावी भाषा-समूह के दो मुख्य समुदाय हैं—बाल्टी और स्लावी। बाल्टी-समुदाय की तीन मुख्य भाषाएँ हैं—प्राचीन प्रशियाई, लिथुएनी तथा लेटेवी। प्राचीन प्रशियाई भाषा जर्मनी के एक प्राचीन प्रदेश प्रशिया में प्रचलित थी। किन्तु १९वीं शताब्दी के अन्त में इसका लोप हो गया। इसमें १९वीं शताब्दी के मध्य की कुछ धार्मिक रचनाएँ मिलती हैं। लिथुएनी भाषा का प्रसार लिथुएनिया प्रदेश में मिलता है। इसका साहित्य १५४७ ई० से उपलब्ध होता है। इसके दो मुख्य भेद उच्च (दक्षिणी भाग में) और निम्न (उत्तरी भाग में) माने गये हैं। लिथुएनी में भाषा के प्राचीन रूप अब भी वर्तमान मिलते हैं। लेटेवी भाषा लिथुएनी की अपेक्षा अधिक विकसित मानी जाती है। इसके तीन मुख्य भेद हैं-पश्चिमी कुर्लैंड और लिबोनिया का निम्न-रूप, मध्य-रूप तथा दक्षिणी-पूर्वी लिबोनिया एवं कुर्लैंड के पहाड़ी भाग का उच्च रूप। इसमें उच्चारण, विभक्ति आदि सम्बन्धी प्राचीन विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं।

स्लावी-समुदायके तीन भेद मिलते हैं-दक्षिणी, उत्तरी और पश्चिमी। इनमें दक्षिणी की प्राचीन भाषाएँ पुरानी बल्गेरी (चर्च स्लावी), अर्वाचीन बल्गेरी और सर्वोक्रोटी हैं। उत्तरी समूह के तीन भेद-महारूसी, श्वेत रूसी और लघु रूसी हैं। इनमें महारूसी प्रधान और मास्को के

निकटवर्ती भाग की भाषा है। पश्चिमी समूह की पोलिश (Polish) और चेक (Czech) प्रधान भाषाएँ हैं। आर्य परिवार में बाल्टो-स्लावी भाषाएँ ग्रीक और संस्कृत के सदृश ही महत्वपूर्ण हैं।

आर्य-परिवार के अन्तर्गत भारत-ईरानी समूह की भाषाएँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण और प्राचीन मानी जाती हैं। केवल इसी समूह में ही नहीं वरन् संपूर्ण आर्य-परिवार में ऋग्वेद् सबसे पुराना प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। भारतीय और ईरानी भाषाओं में घनिष्ट सम्बन्ध मिलता है। ध्वनि तथा व्याकरण सम्बन्धी विशेषताएँ दोनों वर्गों में काफी समान है। आदिम आर्य भाषा के तीन मूल स्वर अॅ, ऍ, ऑ 7 अ, यथा-एस्ति 7 सं० अस्ति, उदासीन स्वर (schwa)* ə 7 सं०-इ। यथा-*पəतेर 7 सं०पितृ, ई० पिदर, आदिम कंठ्य व्यंजन क, ख, ग, घ आदि के अनन्तर इ, ए कंठ्य स्वर होने पर उनका परिवर्तन च, छ, ज, झ (ह) ध्वनियों में हो जाता है। यथा* क्वे 7 सं० च, घ्वेन्ति 7 ई० झन्ति, सं० हन्ति *ग्वीवोस् 7 सं० जीवः। आज्ञा के रूप प्रथम पुरुष में -तु,-न्तु, षष्ठी बहु-वचन की विभक्ति-नाम्, भूतकाल के लिये अ-उपसर्ग (augment), मुख्य क्रिया के स्थान पर भूतकालिक कृदन्त का प्रयोग आदि व्याकरणिक विशेषताएँ दोनों में समान है। भारतीय और ईरानी भाषा में कुछ भिन्नता भी मिलती है। संस्कृत 'स' के स्थान पर ईरानी में 'ह' ध्वनि मिलती है। जैसे-सप्त=हप्त, सर्व=हौर्व, सिन्धु=हिन्दु, धारयत=दारयत। संस्कृत में महाप्राण व्यंजन घ,ध,भ का ईरानी मे अल्पप्राण-रूप हो जाता है। यथा-भवति=बवति, भूमि=बूमि संस्कृत में मूर्धन्य ध्वनियां ट, ठ, ड, ढ आदि पाई जाती हैं, किन्तु ईरानी में नहीं। सस्कृत क,त,प के स्थान पर ईरानी में ख़,थ़,फ़ मिलते है। जैसे-सखा=हख़ा, गाथा=गाथ़ा आदि। ईरानी-ध्वनियों में स्वरों का व्यत्यय पाया जाता है। जैसे-सोम=हओम, देव=दैव, तरुण=तउरुनम्।

ईरानी भाषा-वर्ग में अवेस्ती और प्राचीन फ़ारसी मुख्य भाषाएँ हैं। दोनों में अवेस्ती अधिक प्राचीन है और वैदिक संस्कृत के अत्यधिक-

निकट है। प्राचीन फ़ारसी लौकिक संस्कृत तथा मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की विविध प्राकृतों से अधिक साम्य रखती हैं। इनमें द्विवचन का लोप, विभक्तियों का एकीकरण आदि विशेषताएँ समान है। अवेस्ती भाषा का नाम पारसियों की धार्मिक पुस्तक 'अवेस्ता' के नाम पर पड़ा है। पारसी धर्म के संस्थापक ज़रथुस्त्र और उनके उपास्यदेव 'अहुरमज़्दह' माने जाते हैं। अवेस्ता में अहुरमज़्दह की स्तुति, यज्ञ, बलि, देवभूमि, राक्षसलोक आदि सम्बन्धी गाथाएँ संग्रहीत हैं। इस ग्रंथ की टीका मध्यकालीन ईरानी भाषा पहलवी (ज़ेन्द) में भी मिलती है इसलिये ग्रंथ ज़ेन्दावेस्ता के नाम से भी प्रचलित है। आधुनिक काल में अफ़गानिस्तान की पश्तो (पख्तो), बिलोचिस्तान की बलोची, पामीर प्लेटो की पामीरी तथा सोग्दी, कुर्दी आदि बोलियां प्राचीन अवेस्ती भाषा से सम्बन्धित की गई हैं।

प्राचीन फ़ारसी में हख्मानी वंश के राजाओं-दारा आदि के लगभग ६०० ई० पू० के शिलालेख मिलते हैं। अरबों के आक्रमण फ़ारस पर दो बार हुये और अनुमान है कि बहुत सी सामग्री जला डाली गई क्योंकि प्राचीन उपलब्ध साहित्य अत्यल्प ही है। मध्यकालीन फ़ारसी का आदर्श-रूप पहलवी है। इसी भाषा में अवेस्ता ग्रन्थ की टीका मिलती है। भाषा की दृष्टि से इसके दो रूप हैं—हुज्वारेश जिसमें अरबी शब्दों का बाहुल्य है और पाज़न्द अथवा पारसी जिसमें अरबी शब्दों की भरमार नहीं है। आधुनिक फ़ारसी का उद्भव ९वीं शताब्दी से माना जाता है। फ़िरदौसी का 'शाहनामा' इस काल की प्रसिद्ध प्रारंभिक रचना है। इस काल में फ़ारसी भाषा का गठन बिल्कुल बदल गया। आधुनिक आर्य भाषाओं में अर्वाचीन फ़ारसी सबसे अधिक अयोगात्मक भाषा मानी जाती है। फ़ारसी-अरबी के शब्दों का प्रभाव भारतीय भाषाओं पर काफी पड़ा है।

ईरानी और भारतीय आर्य भाषाओं के बीच दर्दी भाषाओं का समूह है। पुराणों में 'दरद' जाति का उल्लेख मिलता है। इनको 'पिशाच के नाम से भी कहा गया है। मध्यकालीन आर्य भाषाओं में पैशाची'

प्राकृत का बराबर उल्लेख मिलता है। इसकी विशेषताएं काफी अंशों तक आर्य भाषाओं के सदृश हैं। इसका क्षेत्र भारत का पश्चिमोत्तर भाग माना गया है। यह भाषा-समूह तीन भागों में विभाजित है—खोवारी, काफिरी और मुख्य दर्दी। खोवारी की मुख्य बोली चित्राल पर्वत की चित्राली मानी जाती है। काफिरी बोलियाँ चित्राल के पश्चिमी पहाड़ी भागों में प्रचलित हैं। शीना दरदी का प्रतिनिधित्व करती है, कश्मीरी, कोहिस्तानी इसकी अन्य मुख्य बोलियां हैं। कश्मीरी में कुछ साहित्य मिलता है। गुणाढ्य की वृहत्-कथा प्राचीन कश्मीरी की रचना मानी जाती है। दर्दी भाषाओं का प्रभाव पश्चिमी पंजाबी तथा सिंधी भाषाओं पर पड़ा है। कश्मीरी शारदा लिपि में लिखी मिलती है किन्तु फ़ारसी-अरबी लिपि का भी व्यापक प्रयोग होता है। कश्मीरी पर संस्कृत का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है।

भारतीय आर्य भाषाएँ

समाज के विकास के साथ साथ भाषा की परम्परा चलने लगती है, यह पहले बताया जा चुका है। आजकल देश, काल और जातिगत जो वैभिन्न्य भाषा में मिल रहा है, वह समाज के अन्तरों और परिवर्तनों के फलस्वरूप है। समाज के भिन्न दलों में कभी एक ही विचार-धारा प्रवाहित होने लगती है, फलस्वरूप उन दलों का परस्पर सम्बन्ध सुदृढ़ हो जाता है और किसी धार्मिक या राजनीतिक या अन्य किसी कारण से उन दलों में ऐसी कटुता या वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है कि उनका सामाजिक गठबंधन बिलकुल टूट जाता है, फलस्वरूप भाषा जो कि समाज के बीच विचार-विनिमय का प्रमुख साधन है, अप्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। समाज की इस प्रकार की विश्रृंखलता जितनी ही दीर्घ-व्यापी होगी उतना ही अधिक परिवर्तन भाषा में दृष्टिगोचर होगा। भारत के प्राचीन इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ दो बार इस प्रकार के आन्दोलन हुए हैं, जो समाज के विभिन्न वर्गों में दीर्घकालीन अस्तव्यस्तता लाने में समर्थ हुए। प्रथम का समय लगभग

५०० ई० पूर्व और दूसरे का समय लगभग १००० ई० है। ५०० ई० पू० में आर्यों के यज्ञ-काण्डी तथा धार्मिक जीवन के प्रति महान असन्तोष समाज में मिलता है और बौद्ध-धर्म का अभ्युदय इसी असन्तुलित समाज की देन है। राजनीतिक क्षेत्र में भी मगध-साम्राज्य का उत्थान पूर्ण राजकीय बवंडर का परिणाम था। इन दीर्घकालीन आन्दोलनों के फलस्वरूप इस समय भाषा का जो स्वरूप सामने आया वह संस्कृत से सम्बन्ध रखता हुआ भी उससे बहुत कुछ भिन्न था।

१००० ई० की सामाजिक उथल-पुथल भी कुछ कम महत्व की नहीं थी। भारत के इतिहास का यह अंधकार-युग कहा जाता है। सम्राट हर्ष की केन्द्रीय सत्ता के विनाश के पश्चात् १२०० ई० या उसके कुछ बाद तक भारत में राजनीतिक एकता का अभाव मिलता है। बौद्ध-धर्म का ह्रास और आर्य-धर्म की पुनः प्रतिष्ठा के बीच धर्म और समाज की जा दशा थी उसका पता साहित्य से चल जाता है। अतः ६०० ई० से १२५० ई० के विशृंखलित समाज ने भाषा का जो रूप प्रस्तुत किया निस्सन्देह वह न तो संस्कृत के जैसा है और न मध्य-कालीन आर्य भाषाओं के सदृश ही।

भाषा का यह कालगत परिवर्तन इतना धीमा होता है कि हम अपने जीवन में परिवर्तन के स्वरूप का आभास नहीं कर पाते, परन्तु देशगत अन्तर अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट होता है। 'पांच कोस पर पानी बदलै, दस कोस पर बानी' इस लोकोक्ति की तथ्यता का पता हम सर-लता से लगा सकते हैं, पर कालगत उत्तर को जानने के लिए हमें एक लम्बी अवधि पर दृष्टि रखनी पड़ती है। आधुनिक युग में भाषा की सुरक्षा के इतने साधन उपलब्ध हैं कि यह और भी धीमा हो गया है। प्राचीन काल में परिवर्तन की गति तीव्र होगी इसका अनुमान सामग्री के अभाव में भी लगाया जा सकता है।

प्राचीनतम आर्य बोलियों का उक्त प्रवाह अनवरत रूप से बहता हुआ हिन्दी, बंगला, गुजराती रूपों में दिखाई दे रहा है। इस प्रवाह

की तुलना हम गगा के अप्रतिहत प्रवाह से कर सकते है। जिस प्रकार भिन्न स्थानीय गंगा के प्रवाह को लोग भिन्न संज्ञाएँ दे बैठे हैं, कही गंगोत्री, कही गंगा और कहीं हुगली, ठीक उसी प्रकार वैदिक बोलियों के इस प्रवाह को हम संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी आदि भाषों के नाम से अभिहित करते है। बोलियों का यह स्वाभाविक विकास आज तक बराबर मिल रहा है, परन्तु इनके बोलचाल के प्राचीन स्वरूपों का नितान्त अभाव है। आज कल लेखन-कला को जो सुविधाएँ प्राप्त है, वे पहले नही थी। अतएव बोलचाल की भाषा किस प्रकार की होगी उसका अनुमान हमें लिखित रूपों के आधार पर लगाना पड़ता है। आज के बोली-रूप हिन्दी और साहित्यिक हिन्दी में जो अन्तर है, अथवा बोलचाल की अवधी और रामचरितमानस अथवा कृष्णायन की अवधी मे जो अन्तर है, वही अन्तर यदि पाणिनीय संस्कृत और बोली-रूप सस्कृत का मान लिया जाय, और नाटको में पाई जाने वाली शौर-सेनी प्राकृत तथा शूरसेन-प्रदेश में जनता द्वारा व्यवहृत बोली मे उसी प्रकार के अन्तर का आरोप कर लिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता हैकि किसी भी आधुनिक भाषा का इतिहास, बोली-रूप भाषा की सामग्री के अभाव में प्रस्तुत करना, कितना भ्रान्तिपूर्ण होगा क्योंकि भाषाओं का विकास बोलचाल के रूपों से होता है, साहित्यिक रूपों से नही।

भाषा के साहित्यिक रूपों में एकरूपता की माँग होती है, फलतः भाषा-रूपों में स्थायित्व आ जाता है, जबकि दैनिक मौखिक प्रयोगों में इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता, और जब मौखिक तथा साहित्यिक रूपों मे पाया जाने वाला अन्तर खटकने लगता है तब जनता अपनी जन-बोली को ही साहित्यिक पद पर आरूढ़ करने में समर्थ होती है यही क्रम भाषा-प्रवाह में चला आ रहा है। उदाहरण के लिए हम संस्कृत और पालि तथा अर्धमागधी को ले सकते हैं। बुद्ध और महावीर ने धर्म-प्रचारार्थ जन-बोली को ही प्रश्रय दिया और बाद में वही साहित्यक पद-भोगी बनकर फिर विलुप्त हो गई। इसी प्रकार

हिन्दी के मध्ययुग में ब्रज-भाषा का उदाहरण भी सामने है। उत्तर-प्रदेश की काव्य-भाषा के पद पर ब्रज-भाषा का स्थान सर्वोपरि था परन्तु १९०० ई० के आसपास बोलचाल के रूप में व्यापक हिन्दी ने उस पद को सरलता से ले लिया।

कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी भाषा का एक क्रमबद्ध वैज्ञानिक इतिहास प्रस्तुत करने के लिए हमें पूर्वकालीन मौखिक रूपों की जितनी आवश्यकता पड़ती है उतनी साहित्यिक रूपों की नहीं। पर उसके अभाव में केवल साहित्यिक रूपों के आधार पर जो इतिहास प्रस्तुत किया जाता है उसमें संदेह की काफी गुंजाइश रहती है। यही कारण है कि १. साहित्यिक पालि किस क्षेत्रीय बोली पर आधारित है, २. महाराष्ट्री प्राकृत का सम्बन्ध आधुनिक महाराष्ट्र-प्रदेश से है अथवा महान् राष्ट्र भारतवर्ष से, ३. अवधी की उत्पत्ति अर्धमागधी से हुई या अन्य किसी रूप से, ४. हिन्दी संस्कृत से विकसित है अथवा किसी अपभ्रंश से आदि प्रश्नों के उत्तर में भाषाविज्ञानी एक मत नहीं हैं। साहित्य में पाए जाने वाले शब्द या शब्द-रूप, व्याकरणिक अंश-विभक्ति, प्रत्यय आदि मौखिक रूपों का एक बहुत छोटा अंश होता है। संस्कृत के वैयाकरणों ने संस्कृत की लगभग २००० धातुएँ गिनाई है पारन्तु साहित्य में केवल ५०० ही प्रयुक्त हुई हैं। अतएव निष्कर्ष प्रम णसिद्ध है कि मौखिक रूपों से युक्त सामग्री के अभाव में किसी भी भाषा के इतिहास के लिए हमें अनुमान का पर्याप्त सहारा लेना पड़ेगा और भारतीय आर्य-भाषा का जो विभाजन नीचे दिया गया है वह भी साहित्यिक सामग्री के आधार पर ही है।

भारतीय आर्य-भाषा समूह के तीन विभाग हैं, प्राचीन, मध्य और आधुनिक। प्राचीन भाषा-समूह की दो भाषाएँ-वैदिक और लौकिक संस्कृत हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है ऋग्वेद् भारतीय वाङ्मय का अमूल्य रत्न है। प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी डा०सुनीति कुमार चटर्जी ने वैदिक भाषा को आर्यावर्त की प्राचीन भारतीय बोलियों-उदीच्य, मध्यदेशी,

प्राच्य, प्रतीच्य का साहित्यिक रूप माना है, इसलिये ऋग्वेद्-संहिता में बोली-भेद मिलता है। ऋग्वेद्, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ उपनिषद्-ग्रन्थ, सूत्र-ग्रन्थ आदि की भाषा का उत्तरोत्तर विकास होता गया। इसी के विकसित रूप—लौकिक संस्कृत और प्राकृत भाषाएँ हैं। वैदिक में भाषा के नैसर्गिक प्रयोग की स्वच्छन्दता थी, किन्तु संस्कृत वैयाकरणों ने प्राचीन आर्य भाषा को विशुद्ध रूप में स्थिर रखने के लिये उसे नियमों में जकड़ दिया और वह रूप लौकिक संस्कृत या संस्कृत के नाम से व्यापक बना। इसमें लोकपरक रचनाओं की बहुलता है। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि का इसमें विशेष हाथ था। संस्कृत ने अपने चारों ओर की भाषाओं को प्रभावित किया और स्वयं भी उनसे प्रभावित हुई।

संस्कृत भाषा का गठन योगात्मक और जटिल प्रकार का था वाक्य-रचना गौण थी, पद का विशेष महत्व था। शब्दों के अंत में विभक्तियों और कभी कभी उपसर्ग, प्रत्यय आदि से युक्त संज्ञा, क्रिया आदि के विविध रूपों का प्रयोग किया जाता था। संयुक्त व्यञ्जनों का व्यापक प्रयोग होता था। जैसे-धृत्राष्ट्र, काश्कृत्स्न आदि। किन्तु संस्कृत भाषा का यह प्रयोग जनसाधारण के लिये सुलभ नहीं था। इसका कारण कुछ तो विदेशी वाह्य जातियों का संपर्क था और कुछ स्थानीय लोगों की लाघव-वृत्ति। पुरानी क्लिष्ट ध्वनियों के उच्चारण बदल कर सुविधाजन्य रूप में प्रचलित हो गये। व्याकरण के विविध रूपों की जटिलता शनैः शनैः समाप्त होने लगी। प्राचीन आर्य भाषा का यह नया रूप प्राकृत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका आरंभ ई० पू० से माना जा सकता है। प्राकृत का तीन रूपों में उत्तरोत्तर विकास हुआ। प्रारंभिक प्राकृत-पालि तथा शिलालेखी प्राकृत, मध्य प्राकृत-महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पैशाची आदि, उत्तर प्राकृत अपभ्रंश। कुछ विद्वानों ने प्रारंभिक और मध्य प्राकृत के संधिकाल की प्राकृत का भी उल्लेख किया है। इसे 'निय' प्राकृत कहा गया है।

प्राकृत के विविध रूपों का मूल आधार प्राचीन आर्य भाषा का

बोली-भेद माना जाता है। प्राकृत उस काल में जनसाधारण में व्यवहृत होती थी यद्यपि संस्कृत भाषा का मान कम नहीं हुआ था। किन्तु प्राकृत भाषा का प्रत्येक लोक-रूप बाद में साहित्यिक रूप बन गया। इसके मूल में संस्कृत भाषा और संस्कृत-शैली ही थी। और जब यह साहित्यिक रूप जनसाधारण के लिये पुनः क्लिष्ट हो जाता था तो फिर एक नये लोक-रूप का विकास होता था। लोक भाषा और साहित्यिक भाषा का यह चक्र मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों से परिचालित होता है। सभी प्राकृतें जब साहित्यिक स्तर की भाषायें हो गई तो उनके आधार पर एक नये लोक-रूप 'अपभ्रंश' का उद्भव हुआ। महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्ध-मागधी आदि प्राकृतों का आधार लेकर क्रमशः महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी अपभ्रंशों का विकास हुआ। अपभ्रंशों के तीन भेद-नागर, उपनागर और ब्राचड़ नामों से भी दिये गये हैं। अपभ्रंश के अनेक रूपों का उल्लेख किया गया है, किन्तु उपर्युक्त भेद मुख्य हैं।

कालान्तर में अपभ्रंश भाषायें भी नागरिक भाषाएँ बन गईं और जनसाधारण के लिए वह रूप सरल नहीं रहा। अतः इनका आधार लेकर नये भाषा-रूपों का विकास हुआ। इसे प्रारंभ में 'भाषा' अथवा 'भाखा' का नाम दिया गया। शौरसेनी अपभ्रंश के क्षेत्र में पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, सिंधी, गुजराती, राजस्थानी, पहाड़ी, भीली, खानदेशी आदि भाषायें, मागधी अपभ्रंश के क्षेत्र में बँगला, बिहारी, असामी उड़िया भाषाएँ, अर्धमागधी के क्षेत्र में पूर्वी हिन्दी, महाराष्ट्री के क्षेत्र में मराठी तथा सिहाली आदि भाषाएँ विकसित हुईं। डा० चटर्जी ने पंजाबी का कैकय अथवा टक्क अपभ्रंश, सिन्धी का ब्राचड़ अपभ्रंश, राजस्थानी का आवन्त्या, गुजराती का गुर्जर अपभ्रंश, पहाड़ी का खस अपभ्रंश से संबंध जोड़ा है। शौरसेनी अपभ्रंश पश्चिमी अपभ्रंश का प्रतिनिधित्व करती है जिसके अन्तर्गत, कैकय, ब्राचड़, गुर्जर आदि अपभ्रंशों के रूप भी सम्मिलित किये जा सकते हैं। मागधी अपभ्रंश के भी इसी

प्रकार औड्र, गौड़, ढक्की आदि भेद किये गये हैं जिनसे क्रमशः उड़िया, पश्चिमी बंगला, पूर्वी बंगला भाषायें संबंधित की गई हैं। आधुनिक आर्य भाषाओं का गठन प्राचीन तथा मध्ययुगीन भाषाओं के गठन से भिन्न है। नवीन विकसित रूप अयोगात्मकता के निकट है। शब्द अथवा पद की अपेक्षा शब्द-क्रम अथवा वाक्य-रचना का अधिक महत्व है। इन आधुनिक भाषाओं में परस्पर काफी समानता है।

आधुनिक आर्य भाषाओं में अपभ्रंश की ध्वनि संबंधी विशेषताएँ समान रूप में विकसित हुई हैं। शब्दों के अन्त्य स्वर इन भाषाओं के पुराने रूपों में प्रायः सुरक्षित मिलते हैं जैसे, अखि-सिन्धी, आंखि-बिहारी, बँगला, आँखि-पश्चिमी हिन्दी, आँखी-पूर्वी हि०, अक्खीं-पंजाबी आदि।

किन्तु अधिकांश भाषाओं के वर्तमान रूपों में प्रायः इनका लोप कर दिया गया है। जैसे आँख्, जल्, आम्(हिंदी, बंगला आदि)। हिंदी के ग्रामीण रूपों में इनका प्रयोग काफी समय तक होता रहा, यथा—लड़ि, पहिरि, तीनु, चारि, सचु, बातु आदि और आज भी इनका प्रयोग होता है। किन्तु खड़ी बोली (नागरी हिंदी) में इनका बिल्कुल लोप हो गया है। जैसे सच्, गात्, काम्, तीन्, चार् आदि। सिन्धी, पंजाबी, उड़िया आदि भाषाओं में ह्रस्व स्वर का उच्चारण अब भी पाया जाता है। बिहारी की मैथिली बोली में इसका प्रयोग होता है, मगही और भोजपुरिया में इसका लोप हो गया है। संस्कृत, प्राकृत स 7 ह का प्रयोग भी कुछ आधुनिक भाषाओं की विशेषता है। जैसे, करिस्सी-करिहै। कुछ में यह सुरक्षित रहता है। गुजराती–करशै, राजस्थानी–करसी, पंजाबी-करेसी। महाप्राण व्यंजन ख, घ, छ, ठ, ढ, थ, फ, भ में 'ह्' अंश का लोप भी कुछ आधुनिक भाषाओं की विशेषता है। जैसे, भगिनी-बहन (हिन्दी), वैण (पजाबी) ग्रादि। विदेशी ध्वनियों में क़, ख़, ग़, ज़, फ़ आदि के प्रयोग होते हैं। व्याकरणिक विशेषताओं में भी काफी समानता है। इन सभी भाषाओं के विविध संबंधों—संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि को परसर्गों के द्वारा प्रकट किया जाता है। विभक्तियों का प्रायः ह्रास हो

गया । परसर्गों के प्रयोग में कुछ भिन्नता भी है । 'ने' परसर्ग का प्रयोग केवल पश्चिमी क्षेत्र की हिन्दी, पंजाबी, सिंधी, गुजराती, पहाड़ी आदि में होता है किन्तु पूर्वी क्षेत्र की बँगला, उड़िया, बिहारी, पूर्वी-हिन्दी आदि भाषाओं में इसका प्रयोग नहीं पाया जाता ।

शब्द-भांडार की दृष्टि से आधुनिक आर्य भाषाओं में काफी समानता है । मध्यकालीन आर्य भाषाओं से शब्द-विकास बहुत कुछ समान रूप में हुआ । अँग्रेज़ी, फ़ारसी, अरबी आदि के शब्दों का प्रयोग सभी भारतीय आर्य भाषाओं की विशेषता है । आधुनिक काल में संस्कृत भाषा के शब्दों के प्रयोग की व्यापक प्रवृत्ति सभी भाषाओं में मिलती है ।

कतिपय विशेषताओं के आधार पर आधुनिक आर्य भाषाओं को कुछ समूहों में बाँटा गया है । विद्वानों ने इन भाषाओं में मध्य प्रदेश की भाषा पश्चिमी हिन्दी को अन्य भाषाओं-लहदाँ, सिंधी, गुजराती, मराठी, बँगला, बिहारी, पहाड़ी आदि से भिन्न रूप में माना है । डा० ग्रियर्सन ने इन भाषाओं को अन्तरंग (inner) और वहिरंग (outer) दो मुख्य समूहों में बाँटा है । विभाजन का यह आधार बहुत कुछ भारत में आर्यों के आगमन और विस्तार से संबंधित है । सर्वप्रथम हार्नले ने आर्यों को दो समूहों में बाँटा था । पहले के आये हुये आर्य मध्य-प्रदेश में बसे और बाद में आये हुए आर्यों ने इनको उत्तर-पूर्व तथा दक्षिण में शरण लेने के लिये विवश कर दिया और नवागन्तुक आर्य मध्य-प्रदेश में बस गये । इन्हें अन्तरंग और अन्य को वहिरंग के अंतर्गत रखा जाता है । डा० ग्रियर्सन ने इस मत का समर्थन करते हुए अन्य तथ्यों से इसे और पुष्ट किया । उन्होंने स्पष्ट किया कि ये बहिरंग समूह वाले आर्य पंजाब, सिंध, गुजरात, राजपुताना, महाराष्ट्र, पूर्वी क्षेत्र आदि में बसे ओर इन क्षेत्रों की आधुनिक भाषाएँ—लहंदा, सिंधी, गुजराती, मराठी, बँगला, बिहारी, पहाड़ी आदि उनसे संबंधित हैं । अन्तरंग आर्यों से संबंधित भाषा-समूह केवल पश्चिमी हिन्दी है । अन्तरंग भाषा-समूह पर संस्कृत-भाषा का प्रभाव है और वहिरंग भाषाएँ दर्दी भाषा-समूह से प्रभावित हैं । बहिरंग

समूह की सभी भाषाएँ एक समान नहीं हैं। उनमें स्थानीय विशेषताएँ भिन्न-भिन्न रूप में विद्यमान हैं। श्री रामप्रसाद चन्द ने दोनों समूह के आर्यो में उनकी आकृति, बनावट, गठन आदि के आधार पर अन्तर स्पष्ट किया है। अन्तरंग आर्य पंजाब, राजपुताना तथा मध्य-प्रदेश के निवासियों के पूर्वज थे। इन्होंने वैदिक धर्म तथा वर्णभेद आदि का विकास किया और बहिरंग आर्यों ने वैष्णव तथा शाक्त-धर्म का विकास किया। बाद में अन्तरग और बहिरंग के परस्पर संसर्ग और सहयोग से बहिरंग क्षेत्रों—गुजरात,महाराष्ट्र, बंगाल, बिहार, उड़ीसा आदि में भी संस्कृत का प्रभाव व्यापक हो गया। डा० ग्रियर्सन के अनुसार आधुनिक आर्य भाषाओं का विभाजन इस प्रकार है—

वहिरंग शाखा—१. पश्चिमोत्तरी—लहंदा, सिंधी
२. पूर्वी—बिहारा, बंगला, असामी, उड़िया
३. दक्षिणी—मराठी

अन्तरंग शाखा—पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, भीली, खान-देशी, राजस्थानी तथा पहाड़ी (पूर्वी, मध्य, पश्चिमी)

मध्यवर्ती शाखा—पूर्वी हिन्दी

किन्तु डा० ग्रियर्सन का यह वर्गीकरण भाषाओं की पारस्परिक विशेषताओंतथा स्थानीय समीपता की दृष्टि से बहुत समीचीन नहीं जान पड़ता।

डा० ग्रियर्सन ने बाहरी तथा भीतरी शाखाओं में कतिपय ध्वनि तथा रूप संबंधी भिन्न भिन्न विशेषताएँ दी थीं। किंतु डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपने सबल तर्कों द्वारा इन विशेषताओं में संदेह प्रकट किया है। वहिरंग भाषा में शब्दों के अन्त्यस्वर-इ,-उ,-ए सुरक्षित हैं और अंतरंग में इनका लोप हो गया है परन्तु स्थिति यह है कि मराठी, विहारी, बंगला में भी इनका लोप मिलता है और पश्चिमी हिन्दी में इनका प्रयोग होता है। यथा-बंगला आंख, व्रज-सांचि, सबु। स्वर इ7 ए, उ7 ओ वहिरंग की ही विशेषता नहीं है अन्तरंग में भी यह परिवर्तन मिलता है। यथा-व्रज (प० हिं०) मुहि-मोहि, तुहि- तोहि। व्यंजन ल7 र, ड़7 र, द7 ड,

श, ष, स7 स केवल बाहरी ही नहीं वरन् भीतरी शाखामें भी मिलते हैं। यथा ब्रज—जलै,7 जरे, बिजली7 बिजुरी, बिगड़े,7 बिगरे, दीठि7 डीठि आदि। स्वरमध्यवर्ती-र का लोप तथा—स 7-ह का परिवर्तन अंतरंग भाषाओं में भी मिलता है। यथा— पर 7 पै, केहरि ∠ केसरिन्। डा० ग्रियर्सन ने बहिरंग भाषाओं को योगात्मकता की ओर उन्मुख और अन्तरंग को अयोगात्मक माना है। यथा—ललितेर बाड़ी-ललित के घर। परन्तु ऐसे योगात्मक रूप अन्तरंग में भी मिलते हैं और विभक्ति-रूप के अवशेष न हो कर यह सामासिक रूप है। कृदंती कर्मवाच्य का प्रयोग उड़िया, बंगला, विहारी में नहीं मिलता और मराठी, सिंधी, लहंदा में इसका प्रयोग होता है। अतः इस आधार पर अतरंग और वहिरंग का विभाजन उचित नहीं कहा जा सकता।

डा० चटर्जी का वर्गीकरण निम्नलिखित है :—

१. उदीच्य—सिंधी, लहंदा, पंजाबी
२. प्रतीच्य—गुजराती, राजस्थानी
३. मध्यदेशी—पश्चिमी हिन्दी
४. प्राच्य—पूर्वी हिन्दी, बिहारी, बंगला, असामी, उड़िया
५. दाक्षिणात्य—मराठी

डा० चटर्जी ने भाषा की स्थानीय समीपता तथा पारस्परिक विशेषता संबंधी दृष्टिकोण को प्रधान मानकर भाषाओं का उपरोक्त वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। पहले बताया जा चुका है कि मध्यप्रदेश की प्रधानता वैदिक काल से ही रही और उसी का प्रतिनिधित्व आधुनिक पश्चिमी हिन्दी करती है इसलिये उसे मध्यदेशी के अन्तर्गत रखना ठीक ही है। इसी प्रकार उक्त विशेषताओं की दृष्टि से सिंधी, लहंदा को पंजाबी से अलग नहीं किया जा सकता, ऐसे ही गुजराती-राजस्थानी को एक दूसरे से अलग करना कठिन है, तथा पूर्वी हिन्दी को सुदूरपूर्व की भाषाओं से संबंधित करना उचित है। पश्चिमी हिन्दी को केन्द्र मानकर अन्य आधुनिक भाषाओं का स्थान-निर्धारण प्राचीन परम्परा

का अंधानुसरण नहीं वरन् विशेषताओं की दृष्टि से समीचीन वर्गीकरण है। डा० ग्रियर्सन ने बाद में अपने वर्गीकरण को इसी कारण सुधार लिया। अंतरंग भाषाएँ मध्यवर्ती से अधिक संबंधित हैं, यह स्पष्ट करते हुए इन्होंने भाषाओं का संशोधित वर्गीकरण निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया :—

मध्यदेशी—पश्चिमी हिन्दी

अंतरग—पंजाबी, राजस्थानी (खानदेशी), गुजराती (भीली)
पहाड़ी (पूर्वी, मध्य, पश्चिमी), पूर्वी हिन्दी

वहिरंग—पश्चिमोत्तरी-सिधी, लहंदा
दक्षिणी—मराठी
पूर्वी—बिहारी, बंगला, असामी, उड़िया

डा० ग्रियर्सन का परिवर्तित वर्गीकरण पहले की अपेक्षा अधिक पूर्ण और निश्चित जान पड़ता है। कारक-चिह्नों के प्रयोग के अनुसार भी इन भाषाओं का विभाजन किया गया है। सुविधा की दृष्टि से डा० चटर्जी का वर्गीकरण श्रेयस्कर कहा जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आधुनिक आर्य भाषाओं में यथेष्ट समानता और वर्ग-भेद के अनुसार कुछ भिन्नता है। भारतीय भाषाओं की जानकारी के लिये इन भाषाओं का संक्षेप में यहाँ पर परिचय दे देना समीचीन होगा।

सिन्धी

सिन्धु-घाटी के निचले भाग तथा कच्छ-घाटी की यह भाषा पांच बोलियों में विभाजित मिलती है—विचौली, सिरैकी, लाड़ी, थरेली, कच्छी। किन्तु इस प्रदेश का पाकिस्तान में सम्मिलित हो जाने के बाद से सिन्धी बोलने वाले वहाँ के हजारों मूल निवासी भारत के पंजाब, दिल्ली तथा उत्तर-प्रदेश आदि भागों में भी आकर बस गये है। सिन्धी में कोई उल्लेखनीय साहित्य नहीं है। केवल थोड़ा लोक-साहित्य मिलता है। उपलब्ध रचनाओं पर फ़ारसी-शैली तथा शब्दों का प्रभाव अधिक पड़ा है। फ़ारसी-अरबी लिपि का व्यापक प्रयोग किया जाता है।

भारतीय लंडा तथा गुरुमुखी लिपियों का प्रयोग भी व्यवसायी वर्गों में होता है। सिन्धी में कुछ विशेष ध्वनियाँ मिलती हैं, जिनका प्रयोग अन्य भारतीय भाषाओं में नहीं पाया जाता। ये ध्वनियां उपालिजिह्वा को बंद करके उच्चरित की जाती हैं। हिन्दी ग, ज, ड, ब से इनका उच्चारण थोड़ा भिन्न होता है। ब्राचड़ अपभ्रंश के सदृश त7 द, द7 ड हो जाता है। जैसे-हिन्दी तांबा7टामो, हिन्दी-देना7 डिअणु आदि।

लहंदा (लहंदी)

यह पश्चिमी पंजाब की भाषा है। यह हिन्दकी, जटकी, मुलतानी आदि नामों से भी प्रचलित है। लहंदा की चार बोलियां मुख्य हैं—केन्द्रीय बोली, दक्षिणी (मुल्तानी), उत्तर-पूर्वी पोठवारी, उत्तर-पश्चिमी (धन्नी)। इनमें केन्द्रीय बोली मुख्य है। इसमें कोई संपन्न साहित्य नहीं है। सिक्खों का वार्ता-साहित्य, जनमसाखी तथा लोक-गीत आदि उपलब्ध होते हैं। लंडा-लिपि मुख्य है। गुरुमुखी तथा उर्दू-लिपि का भी व्यवहार किया जाता है। इसका क्षेत्र अब पाकिस्तान में सम्मिलित हो गया है।

पंजाबी

पंजाबी का विस्तार सम्पूर्ण पंजाब में पाया जाता है। लहंदा (पश्चिमी पंजाबी) का पंजाबी पर काफी प्रभाव है। पश्चिमी हिन्दी पर इसका अधिक प्रभाव पड़ा है। इसकी कुछ बोलियाँ भी हैं। अमृतसर के आस-पास शुद्ध पंजाबी का प्रयोग होता है। जम्बू राज्य तथा कांगरा जिले की बोली—डोग्री इसी के अंतर्गत हैं। इसमें संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के शब्दोंका व्यवहार अधिक होता है। पंजाबी में संस्कृत के पुराने रूप अब भी सुरक्षित हैं। गुरुमुखी इसकी मुख्य लिपि है वैसे देव-नागरी तथा उर्दू लिपि का भी व्यवहार किया जाता है। भारतीय स्वतंत्रता के बाद पंजाबी भाषा और साहित्य की उन्नति के लिये विशेष प्रयास हो रहा है। इसका लोक-साहित्य संपन्न है।

गुजराती

यह गुजरात, काठियावाड़ और कच्छ में प्रचलित है। पुरानी राज-

स्थानी से इसका घनिष्ट संबंध है। गुजराती और पश्चिमी राजस्थानी एक ही भाषा से विकसित दो विभाषाओं के रूप में मानी जाती हैं। प्राचीन गुर्जर-जाति की भाषा गुर्जर-अपभ्रंश को इस भाषा का मूलस्रोत माना गया है। विद्वानों का अनुमान है कि १५वीं शताब्दी से इसका भिन्न अस्तित्व स्पष्ट होने लगता है। मध्य-देश की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश ने इन भाषाओं को अत्यधिक प्रभावित किया है। नरसिंह मेहता गुजराती के प्रथम श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनकी मूल रचनाएँ १५वीं शताब्दी की हैं। गुजराती का मराठी से हिन्दी की अपेक्षा कम संबंध है। राजस्थानी भाषा का विस्तृत विवरण हिन्दी भाषा-समूह के अन्तर्गत दिया गया है।

मराठी

यह दक्षिण में बरार, पुराना मध्य-प्रदेश, बंबई के पास समुद्री किनारे आदि भागों की भाषा है। मराठी की तीन बोलियाँ मुख्य हैं। दक्षिण भाग की देशी, समुद्री किनारे की कोंकणी, पूर्वी भाग की नागपुरी। पूना के आसपास की बोली टकसाली मानी जाती है। बरार की बोली 'बरारी' भी उल्लेखनीय है। मराठी, द्राविड़ आदि का मिश्रित रूप 'हल्बी' बस्तर में प्रचलित है। मराठी का पुराना साहित्य समृद्ध है। मुकुन्दराज, ज्ञान-देव (ज्ञानेश्वर), नामदेव आदि की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। इनमें संत-भावना व्यापक मिलती है। मराठी में ध्वनि संबंधी कतिपय विशेषताएँ हिन्दी से भिन्न हैं। वैदिक मूर्धन्य ध्वनियों का प्रयोग होता है। च़, ज़, विशेष व्यंजन हैं जिनका उच्चारण हिन्दी से भिन्न है। नये राजकीय संगठन में मराठी का क्षेत्र विशाल बंबई प्रदेश में सम्मलित हो गया है। मराठी-लिपि तथा हिन्दी की लिपि-देवनागरी प्रायः समान हैं। आधुनिक साहित्य भी समृद्ध है।

बँगला

यह पूरे बंगाल की भाषा है। पूर्वी बंगाल पाकिस्तान में सम्मिलित हो गया है, पश्चिमी बंगाल भारत का भाग है। बंगला के दो प्रधान रूप इसी आधार पर पूर्वी बंगला और पश्चिमी बंगला के नाम से

प्रचलित हैं। साहित्यिक भाषा 'साधु-भाषा' के नाम से कही जाती है। बंगला का एक उत्तरी रूप भी है, जिससे असामी भाषा अधिक संबंधित है। बंगला और असामी का प्रारंभिक रूप प्रायः बहुत कुछ समान था किन्तु १५वीं शताब्दी के लगभग से असामी का रूप बंगला से स्पष्टतया भिन्न मिलता है। बंगला में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। बंगला से उच्चारण संबंधी विशेषता के कारण लिखित रूप का ज्यों का त्यों उच्चारण नहीं होता। अकारांत रूप कुछ वृत्ताकार हो जाते हैं। बंगला का पुराना साहित्य काफी संपन्न है। चन्डीदास के पद, कृत्तिवास की रामायण, विजय-गुप्त का पद्मपुराण, मालाधार वसु का श्रीकृष्ण-विजय, मुकुन्दराम का चन्डी-काव्य, गोपीचंद के पद आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। आधुनिक काव्य-साहित्य में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अंग्रेज़ी का प्रभाव सर्वप्रथम बंगला-भाषा पर ही पड़ा। बंगला की अपनी अलग लिपि है।

असामी

यह असाम-प्रदेश की भाषा है। इसे 'असमिया' के नाम से भी कहा जाता है। पहले कहा गया है कि बंगला और असमिया में काफी समानता थी। किन्तु १५वीं शताब्दी से उसका रूप भिन्न हो जाता है। पुरानी रचनाओं का निर्माण तभी से प्रारंभ हुआ, यह कहा जा सकता है। प्रारंभिक असामी और आधुनिक असामी में थोड़ी भिन्नता है। पुराने कवियों में माधव-कंदली, शंकरदेव, माधवराम, सरस्वती आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतीय स्वतंत्रता के बाद वहाँ के निवासी असामी भाषा और साहित्य की उन्नति और अधिक सचेष्ट हैं। इसकी लिपि बंगला के सदृश है केवल दो-तीन वर्ण भिन्न हैं। असामी में तिब्बती-ब्रह्मी तथा नागा आदि भाषा-समूहों के शब्दों का प्रभाव भी मिलता है।

उड़िया

उड़िया भी बंगला से काफी संबंधित है। ओड्र (उड्र)जाति

की भाषा से प्रभावित होने के कारण इसे 'ओड्री' भी कहा जाता है। यह जाति संभवतः कोई अनार्य भाषा का प्रयोग करती थी लेकिन कालान्तर में वह आर्य-भाषा से आक्रान्त हो गई। उत्कल जाति की भाषा होने के कारण यह 'उत्कली' भी कहलाती है। उत्कली के पहले उस क्षेत्र में प्रायः तेलगू भाषा का व्यवहार किया जाता था। उड़िया के प्रसार से तेलगू भाषाभाषी पीछे हटते चले गये। उड़िया का प्राचीन शिलालेख १३वीं शताब्दी का उपलब्ध हुआ है। पुरी और भुवनेश्वर के मंदिरों पर अंकित १५वीं शताब्दी के शिलालेख भी महत्वपूर्ण हैं। प्रारंभिक उड़िया पर बंगला की अपेक्षा संस्कृत का प्रभाव अधिक पड़ा। आधुनिक उड़िया पर बंगला का प्रभाव अधिक है। उड़िया की अपनी भिन्न लिपि है। वर्णों पर वृत्ताकार शिरोरेखा का व्यवहार किया जाता है। इस पर द्राविड़ भाषा और लिपि का भी कुछ प्रभाव पड़ा है।

जिप्सी (हबूड़ी)

इसे भारतीय भाषाओं से संबंधित किया गया है। लगभग ५०० ई० पू० जिप्सी जाति के कुछ पूर्वज ईरान, अर्मीनिया, तुर्किस्तान, सीरिया पहुँचे और १८वीं शताब्दी में इनका उद्भव पूर्वी यूरोप में हुआ। तदनन्तर ये पश्चिमी यूरोप में वेल्ज तक फैल गये। इनकी भाषा मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं से अधिक संबंधित है यद्यपि विदेशी भाषाओं के शब्द भी इसमें अत्यधिक हैं। व्युत्पत्ति तथा गठन की दृष्टि से आधुनिक आर्य भाषाओं से इनका निकटस्थ संबंध है किन्तु शब्द-समूह प्रायः विदेशी है, इसलिये आधुनिक आर्य भाषाओं के साथ इनकी चर्चा कम की जाती है।

सिंहाली

यह भाषा भी भारतीय आर्य भाषाओं से संबंधित है। डा० चटर्जी के अनुसार एक भारतीय वर्ग राजकुमार विजय के साथ ५०० ई० पू० सिंहल-द्वीप में जाकर बस गया। उनकी भाषा भारत के पश्चिमी समुद्री किनारे (गुजरात, काठियावाड़) की भाषा थी और १०० ई० पू० के लगभग उस पर मागधी का प्रभाव पड़ा। कई शिला-

लेखों से प्राकृत का यह प्रभाव स्पष्ट होता है। इसमें महाप्राण व्यंजन अल्पप्राण और श, ष, स7 स हो गया है। सिंहाली के प्राचीन लेख १०वीं शताब्दी से मिलते हैं और इसका प्राचीन नाम एळु∠ हैळु∠ हिअळु∠ सिहळु∠ सिंहल था। आधुनिक सिंहाली पर संस्कृत और पालि का प्रभाव अधिक पड़ा है। मालद्वीप की भाषा पुरानी सिंहाली से विकसित मानी जाती है।

भाषा के अन्तर्गत 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग सीमित अर्थ में समूह-बाची रूप के लिये होता है। प्रचलित अर्थ में यह केवल मेरठ, बिजनौर आदि की खड़ी बोली के परिष्कृत रूप 'नागरी हिंदी' के लिये और सामूहिक अर्थ में उसकी सभी बोलियों के लिये प्रयुक्त होता है। इसके दो मुख्य भेद हैं—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत खड़ी बोली तथा उसके कई रूपान्तर (उच्च हिन्दी, साहित्यिक हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी आदि), ब्रज, बुंदेली, कनौजी, बाँगड़ू और पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, बैसवाड़ी मुख्य बोलियाँ हैं। बिहार-प्रदेश की मैथिली, मगही, भोजपुरिया, तथा राजस्थान की राजस्थानी भी हिन्दी के अन्तर्गत मानी जाती है। बिहारी बोलियाँ पूर्बी हिन्दी और राजस्थानी पश्चिमी हिन्दी के अधिक निकट है। इन बोलियों का विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में किया गया है।

खड़ी बोली हिन्दी का परिष्कृत रूप राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन किया गया है। राष्ट्र-भाषा हिन्दी के अतिरिक्त भारतीय संविधान में निम्नलिखित अन्य १३ भाषाओं को मान्यता प्रदान की गई है:—बँगला, असामी, उड़िया, मराठी, गुजराती, पंजाबी, तामिल, मलयालम, तेलगू, कन्नड़, संस्कृत, कश्मीरी, उर्दू। इनमें से कई भाषाओं का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है। भारतीय राष्ट्र-भाषा पर अगले अध्याय में विचार किया गया है। अब भारतवर्ष की आर्येतर भाषाओं के सम्बन्ध में विचार कर लेना युक्तिसंगत होगा।

आर्येतर भारतीय भाषाएँ

भारतवर्ष की आर्येतर भाषाओं में द्राविड़ तथा आस्ट्री (मुंडा) परिवार की भाषाएँ मुख्य हैं। चीनी परिवार की बोलियों का अत्यल्प प्रयोग असाम के उत्तर-पूर्वी भागों में किया जाता है। इनमें बोडो, नागा बोलियाँ मुख्य हैं। इनके बोलने वाले जंगलों तथा पहाड़ों पर रहते हैं। इन बोलियों का सम्बन्ध चीनी-परिवार की तिब्बत-हिमालयी शाखा से है। नागा तथा बोडो की कई बोलियों का अनुमान किया गया है। बोडो आदि बोलियों का ह्रास हो रहा है, किन्तु नागा आदि बोलियाँ सुरक्षित हैं। मलायपोलीनेशी भाषा-परिवार की, मुंडा समूह की भाषाएँ मोन-ख्मेर भाषाओं से भी सम्बन्धित हैं। मोनख्मेर समूह की 'खसी' भाषा है। असाम को खसी जाति की बोली है जो वहाँ के पहाड़ी स्थानों में रहती इनका विकास अब स्वतंत्र रूप से हो रहा है किन्तु उसका गठन मोन-भाषा-समूह से बिल्कुल स्पष्ट है। मुंडा-समूह की बोलियाँ पश्चिमी बंगाल से विहार, उड़ीसा, मध्य-प्रदेश, मद्रास के कुछ जिलों में रहने वाली जंगली जातियों में प्रचलित हैं। मुख्य बोलियाँ संथाली, मुंडारी, हो, कुर्कू, जुआंग, शाबर आदि हैं। इनको 'खेरवारी' नाम से भी कहा जाता है। इसकी कनावरी बोली हिमालय की तराई से शिमला की पहाड़ियों तक प्रचलित है। इनके बोलने वाले 'कोल' नाम से भी कहे जाते हैं। इन पर द्राविड़ तथा आर्य भाषाओं का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है।

ये बोलियां प्रत्ययप्रधान योगात्मक ढंग की हैं। व्याकरणिक रूप शब्दों के मध्य, अन्त में प्रत्यय जोड़ कर बनाये जाते हैं। विभक्तियों का बोध कारक-चिह्नों से तथा लिंग-भेद पुरुष और स्त्रीवाची शब्द जोड़ कर होता है। प्रायः लिंग का बोध सजीव और निर्जीव भेद के अनुसार होता है। इनमें तीन वचनों का प्रयोग होता है। जैसे हाड़ (मनुष्य), हाड़कीन (दो मनुष्य), हाड़को (अनेक मनुष्य)। पुरुषवाचक सर्वनाम के उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष का बोध दो प्रकार से कराया जाता है। एक से दोनों रूपों का सम्मिलित बोध होता है और दूसरे में दोनो

अलग अलग रहते हैं। जैसे-अले और अबोन। पहले से केवल वक्ता (उत्तम पुरुष) का बोध होता है और दूसरे से वक्ता, श्रोता दोनों का सम्मिलित बोध होता है। हिन्दी में जैसे-उसे जाने दो, अपन लोग पढ़ेंगे-में 'उसे' अन्य पुरुष और 'अपन' उत्तम, मध्यम दोनों पुरुषों का बोध कराता है। गुजराती में-अमे गया हता (मैं गया था) और—आपणे गया हता (अपन लोग गये थे)। मुंडा में क्रिया-रूपों की काफी जटिलता है। गिनती २० के आधार पर मिलती है। मुंडा में ध्वनियाँ आर्य भाषाओं के सदृश मिलती हैं। विशेष ध्वनियों में क, च, त, प अर्ध-व्यंजन मुख्य हैं जिनका उच्चारण श्वास को भीतर खींचकर किया जाता है। मुंडा बोलियों का प्रभाव भातीय आर्य भाषाओं पर भी पड़ा है। मुंडा क्रिया की जटिलता से ही संभवतः बिहारी बोलियाँ (भोजपुरी मगही, मैथिली) प्रभावित हैं। उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष के ,सम्मिलित बोध के उदाहरण पहले दिये ही गये हैं। २० के लिये कोरी अथवा कोड़ी शब्द मुंडा का 'कुड़ी' शब्द है, जिसका प्रयोग भारतीय भाषाओं में व्यापक है।

द्राविड़ परिवार

भारतवर्ष में आर्य परिवार के अनंतर द्राविड़ परिवार की भाषाओं की व्यापकता मिलती है। इन भाषाओं का क्षेत्र मुख्यतया भारतवर्ष का दक्षिणी भाग है। इनका व्यवहार सिंहल-द्वीप के उत्तर तथा-बलूचिस्तान में भी किया जाता है। उराल-अल्ताई भाषाओं से समानता तथा भारत के पश्चिमोत्तर भाग में प्रचलित होने के कारण कुछ लोगों का अनुमान है कि प्राचीन काल में वे भाषाएँ उराल-अल्ताई परिवार से संबंधित थीं। बीच में लेमुरी महाद्वीप था जो बाद में हिन्द महासागर में तिरोहित हो गया, वहीं द्रविड़ भाषाभाषियों के पूर्वज रहते थे। इसी कारण मोहनजोदड़ो की सभ्यता से भी द्रविड़ों संबध का जोड़ा जाता है किन्तु इस संबंध में निश्चय रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इन भाषाओं के बोलने वाले लगभग ७ करोड़ हैं जो भारतीय जनगणना का ५वाँ भाग है।

द्राविड़ भाषाओं को चार समूहों में विभाजित किया गया है— द्राविड़ समूह, आन्ध्र समूह, मध्यवर्ती समूह, पश्चिमोत्तरी समूह । द्राविड़ समूह के अन्तर्गत तामिल, मलयालम, कन्नड़, तुळु, कोडगु, टोडा, कोटा आदि भाषाओं की गणना की जाती है ।

तामिल

द्राविड़ भाषाओं में इसका साहित्य सबसे अधिक प्राचीन और उत्तम है। यह मद्रास के दक्षिण-पूर्व तथा सिंहल-द्वीप के उत्तर में प्रचलित है । तामिल भाषा की समृद्धि के कारण पहले संपूर्ण द्राविड़ भाषाओं को तामिल नाम से ही संबोधित किया जाता था । इस भाषा की तीन स्थितियों का उल्लेख किया गया है । प्राचीन स्थिति ईसा की पहली शताब्दी के लगभग मानी जाती है । इस भाषा के दो मुख्य रूप हैं-शेन और कोडुन । शेन शिष्ट-वर्ग और कोडुन जनसाधारण के द्वारा प्रयुक्त होती है । 'मणिप्रवालं' नाम की इसकी साहित्यिक शैली में संस्कृत तथा तामिल शब्दों का चयन बड़ी सुन्दरता से होता है । तामिल भाषा में महाप्राण अघोष (ख, छ, ठ, थ, फ), महाप्राण सघोष (घ, झ, ढ, ध, भ) तथा सघोष अल्पप्राण (ग, ज, ड, द, ब) व्यंजन नहीं पाये जाते । दो प्रकार के 'र' और 'न' व्यंजनों के प्रयोग में भिन्नता मिलती है । तामिल की प्राचीन लिपि 'वट्टेळुत्तु है' ।

मलयालम

इसे ९वीं शताब्दी में तामिल से उद्भूत माना जाता है किन्तु डा० गोडवर्मा जैसे कुछ विद्वान इसे एक स्वतंत्र भाषा समझते हैं और उन्होंने इस संबंध में कई तर्क भी दिये हैं । इसका विस्तार पश्चिमी समुद्री किनारे, मलावार, मलयपर्वत तथ लक्षद्वीप में पाया जाता है । इस समुद्री किनारे पर विदेशियों के अत्यधिक संपर्क के होने पर भी मलयालम विशुद्ध भाषा बनी रही । संस्कृत भाषा का प्रभाव इस पर बहुत पड़ा है इसलिए यह सुनने में अधिक कर्कश नहीं जान पड़ती । इसका साहित्य १३वीं शताब्दी तक का पाया जाता है। तिरवांकूर और

कोचीन राज्यों की संरक्षा में मलयालम-साहित्य की यथेष्ट उन्नति हुई। इसमे आर्य भाषा के सदृश ही ध्वनि-समूह उपलब्ध होता है। र, ल, न, ट, व्यजनों के दो - दो रूप मिलते है। अतः इसका ध्वनि-समूह तामिल से थोड़ा भिन्न है।

कन्नड़

यह संस्कृत 'कर्नाटक' शब्द का द्राविड़ रूप है। इसका विस्तार संपूर्ण मैसूर,हैदराबाद(आन्ध्र)तथा मद्रास के कुछ भागों में पाया जाता है। द्राविड़ भाषाओं में यह सबसे पुरानी कही गई है। इसमें प्रायः चौथी, पॉचवी शताब्दी से साहित्य लिखा जाने लगा। इसमें उच्चकोटि का प्राचीन और नवीन साहित्य उपलब्ध है। इसका संबंधतामिल से अधिक है।

तुळु

इसका क्षेत्र बहुत सीमित है। यह मंगलौर के आसपास के प्रदेश मे प्रचलित है तथा कन्नड़ और मलयालम के बीच की भाषा है। इसमें कोई साहित्य उपलब्ध नही होता किन्तु प्राचीन काल मे यह एक परिष्कृत तथा समृद्ध भाषा थी, ऐसा कुछ विद्वानों का अनुमान है।

कोडगु

यह कुर्ग की बोली है जो कन्नड़और तुळु के बीच की मानी गई है। डा० गोडवर्मा के अनुसार तुळु एवं कोडगु का संबंध कन्नड़ की अपेक्षा तामिल तथा मलयालम से अधिक है। कन्नड का इन पर बाद मे प्रभाव पड़ा। पहले यह अनुमान था कि इन बोलियों का संबंध कन्नड से अधिक है। टोडा, कोटा बोलियों का प्रयोग नीलगिरि पर्वत पर रहने वाले जगली जातियों के द्वारा किया जाता है। इनकी संख्या दिनों दिन कम होती जा रही है। इस संबंध में अभी अधिक छानबीन नही हुई है। तिरवाकूर, कोचीन तथा मलाबार के पहाडी भाग में रहने वाली जातियों की बोलियाँ तामिल और मलयालम के बीच की जान पड़ती है जिनका अभी सम्यक् अध्ययन नही हुआ है।

मध्यवर्ती समूह की बोलियों में गोंडी, कुरुख, कुई, कोलामी, नैकी

आदि मुख्य हैं । इनका विस्तार बंगाल, बिहार, उड़ीसा, बरार, मध्य-प्रदेश तथा बुंदेलखंड के कुछ भागों में पाया जाता है। इनके बोलने वाले सब जंगली जाति के हैं । गोंडी का प्रयोग करने वाले प्रायः हिन्दी-क्षेत्र में बिखरे हुए है । विन्ध्य-प्रदेश, बुन्देलखंड इनका केन्द्र है । इनमें कोई साहित्य नहीं है । आर्य-भापा का छाप इस पर काफी पड़ी है । गोंडी का संबंध तामिल से अधिक है । कुरुख को ओरावों भी कहते हैं । इसकी कई उप-बोलियाँ भी कही गई है । बंगाल में राजमहल की पहाड़ियों पर रहने वाली जाति की बोली 'मल्तो' इसी की शाखा है । कुरुख पर आर्य तथा मुंडा भाषाओं का प्रभाव अधिक पड़ा है । इन बोलियों का अब धीरे धीरे लोप हो रहा है । मुंडा-क्षेत्र में फैले होने के कारण ये लोग मुंडारी का प्रयोग करने लगे हैं । कुरुख का संबंध भी तामिल से अधिक है । उड़ीसा के जंगलों में रहने वाली बर्बर जाति के द्वारा कुई अथवा कंधी का प्रयोग किया जाता है । इसे कोंधी, खोंध आदि नामों से भी कहा जाता है । कुई का संबंध तामिल से अधिक है । उस समूह की कोलामी बोली पश्चिमी बरार के जंगली लोगों में प्रचलित है। उस-का तेलगु से अधिक संबंध है । इस पर मध्यभारत की आर्य-बोली भीली का अधिक प्रभाव पड़ा है और यह अब धीरे धीरे समाप्त हो रही है । मध्यवर्ती बोलियों का व्यवहार करने वाली सभी जंगली जातियाँ प्रायः द्विभापिया होती हैं । इनमें आर्य-भाषा के शब्दों का व्यापक प्रयोग पाया जाता है । प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी डा० सिद्धेश्वर वर्मा इन द्राविड़ बोलियों पर आर्य-प्रभाव को स्पष्ट करने में सचेष्ट हैं ।

तेलगु

आन्ध्र-समूह की केवल एक प्रधान भाषा तेलगु है तथा कई संबंधित बोलियाँ हैं । तेलगु का क्षेत्र काफी व्यापक है । द्राविड़ परिवार में इसी भाषा के बोलने वाले सब से अधिक हैं । हैदराबाद (आन्ध्र) के आधे भाग, पूर्व में बंगाल की खाड़ी पर त्रिकाकोल तक, मैसूर तथा नागपुर के कुछ भागों में भी तेलगु का प्रसार मिलता है । तेलगु भापा तैलंगों की

भाषा रही है जो अपने शौर्य के लिये मुगल-काल में प्रसिद्ध थे। द्राविड़ सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से यह तामिल के बाद अपना स्थान रखती है। तेलगु का प्राचीन शिलालेख ६३३ ई० का मिलता है और साहित्य १२वीं शताब्दी से मिलता है। इस भाषा की पहली रचना महा-भारत का अनुवाद है। विजयानगरम् के महाराज कृष्णराय ने इसकी उन्नति के लिये विशेष प्रयत्न किया था। तेलगु भाषा में संस्कृत-शब्द प्रचुरता से मिलते हैं इसलिये यह द्राविड़ भाषाओं में सबसे अधिक श्रुतिमधुर मानी जाती है। इसमें सारे शब्द स्वरांत होते हैं इसलिये भाषा के उच्चारण में कर्कशता नहीं है, वह तामिल की अपेक्षा कहीं अधिक मधुर है। तेलगु से संबंधित कई बोलियाँ हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

ब्राहुई

पूर्वी बलूचिस्तान तथा सिन्ध के पहाड़ी भागों में ब्राहुई का प्रसार मिलता है। इसके बोलने वाले दुभाषिये हैं। वे बलूची, पश्तो अथवा सिन्धी का प्रयोग करते हैं। इसके बोलने वाले प्रायः सभी मुसलमान हैं। ब्राहुई शब्द-समूह पर ईरानी और आर्य-प्रभाव इतना अधिक है कि बहुत काल तक इसे द्राविड़ की एक स्वतंत्र भाषा के रूप में स्वीकार ही नहीं किया गया किन्तु बाद में गठन की दृष्टि से यह द्राविड़-समूह की एक स्वतंत्र भाषा सिद्ध हुई।

विशेषताएँ

द्राविड़ भाषाओं के व्याकरणिक रूपों का विकास शब्द के अन्त में प्रत्ययों के योग से होता है। पहले कहा जा चुका है कि ऐसा ही गठन उराल-अल्ताई तथा मुंडा भाषाओं का भी है। द्राविड़ भाषाओं में मूर्धन्य व्यंजनों का आधिक्य है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि प्राचीन आर्य भाषाओं में मूर्धन्य व्यंजनों का अभाव था और सर्वप्रथम भारतीय प्राचीन आर्य भाषा में इसका उद्भव हुआ जिसका कारण द्राविड़ भाषाओं का प्रभाव है। यद्यपि यह एक विवादग्रस्त विषय है, किन्तु इतना

तो कहा ही जा सकता है कि द्राविड़ी में इसकी प्रचुरता के कारण आर्य भाषाओं में मूर्धन्य व्यंजनों का प्रयोग व्यापक बना। ईरानी तथा यूरोपीय प्राचीन भाषाओं में मूर्धन्य व्यंजनों का अभाव माना जाता है। सभी द्राविड़ भाषाओं के शब्दों के अन्त में ह्रस्व -अ या -उ का स्वर सुनाई पड़ता है। तामिल में क, च, त, प, ड़ के अन्त में लघु उकार का स्वर रहता है किन्तु तेलगू तथा कन्नड़ के सभी शब्दों में ह्रस्व 'उ' स्वर व्यवहृत होता है।

द्राविड़ परिवार की केवल ब्राहुई भाषा में लिंग-भेद नहीं होता। यह ईरानी भाषाओं का प्रभाव हो सकता है। अन्य प्रमुख भाषाओं में पुलिंग, और स्त्रीलिंग के भेद होते हैं। कन्नड़ में यह भेद संस्कृत का प्रभाव माना जाता है। लिंग-भेद का नैसर्गिक प्रयोग नहीं मिलता। एक वचन और बहुवचन का प्रयोग होता है। संज्ञाओं के मुख्य विभाजन उच्चजातीय और निम्नजातीय होते हैं। तामिल, तेलगु आदि में पुलिंग तथा स्त्रीलिंग के एक वचन भिन्न होते हैं किन्तु इनका बहुवचन में एक ही रूप होता है। इनके उच्चजातीय रूपों और निम्नजातीय रूपों के प्रत्यय एक वचन में भिन्न-भिन्न होते हैं। बहुवचन के रूपों में ऐसा कोई भेद नहीं किया जाता। निर्जीव तथा अचेतन पदार्थ प्रायः नपुंसक लिंग में होते हैं। संज्ञा आदि रूपों में लिंग-भेद के लिये पुरुष और स्त्रीवाची शब्दों को भी जोड़ा जाता है। केवल अन्य पुरुष के सर्वनामों में पुलिंग और स्त्रीलिंग का भेद होता है। निम्न-जातीय संज्ञाओं में बहुवचन के रूप प्रायः नहीं होते। बहुवचन के लिये प्रत्यय आदि चिह्नों का व्यवहार किया जाता है। निम्नजातीय (अविवेकी, अचेतन) के बहुवचन रूप भी मिलते हैं। जैसे—ल़ु के योग से मरनगल़ु (वृक्षों), कइगल़ु (हाथों), कलगल़ु (देशों)। कन्नड़, तेलगु, गोंडी आदि में 'र' के योग से भी बहुवचन के रूप बनते हैं। कन्नड़, जैसे अरसर (राजाओं), स्त्रियर (महिलाओं), तन्देयर (पिताओं)। तेलगु—देवरु (देवताओं), रायरु (राजाओं), अल्लरु (दामादों)। अन्य रूपों में भी

-ल् का योग होता है। जैसे तन्देगल् (पिताओं)। ब्राहुई में बहुवचन के लिये-क प्रत्यय जुड़ता है। जैसे बा (मुख), बाक् (मुखों), पू (कीड़ा), पूक (कीड़ों)।

संज्ञा आदि विभक्तियों के रूप परसर्ग अथवा कारकचिह्नों के योग से बनते हैं। विभक्तियों की संख्या अनिश्चित हैं किन्तु आर्य भाषाओं के प्रभाव से द्राविड़ वैयाकरणों ने आठ विभक्तियाँ निश्चित कर दी हैं। द्राविड़ भाषा का मूल शब्द ही कर्त्ता कारक में प्रयुक्त होता है। लिंग और वचन के रूपों का विभक्ति-रूपों पर काफी प्रभाव पड़ा है। वचन-भेद के लिये 'जा' चिह्न जुड़ते हैं। वही उसके कारक को भी प्रकट कर देते हैं। कारक-चिह्न शब्दों के विकारी रूपों के बाद ही जुड़ते हैं, मूल के बाद नहीं। संज्ञा के सदृश विशेषणों का रूप-विकास नहीं होता। यह केवल संज्ञा से सम्बन्धित होते हैं। इनका प्रयोग संज्ञा के विशेषण-रूप में होता है। विशेषणों में अधिकतर, अधिकतम आदि रूपों के लिये विशेषण की पुनरावृत्ति अथवा ऐसे अर्थों से सम्बन्धित शब्दों को विशेषण के पूर्व प्रयुक्त किया जाता है। गिनतियाँ आर्य भाषाओं के सदृश दशमलव रूप में प्रयुक्त होती हैं। भारतीय अंग्रेज़ी सिक्कों में प्रयुक्त गिनतियाँ भी द्राविड़ भाषाओं से सम्बन्धित की गई हैं किन्तु यह पूर्णतया निश्चित नहीं है।

आधुनिक तामिल, तेलगु, कुई, कुरुख आदि में उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष के सर्वनाम का सम्मिलित बोध हम, अपन के सदृश होता है। यह मुंडा का प्रभाव जान पड़ता है। किन्तु कन्नड़, गोंडी, ब्राहुई में ऐसा रूप नहीं पाया जाता। द्राविड़ के प्राचीन रूपों में संभवतः यह भेद नहीं किया जाता था, यह बाद का प्रभाव कहा जा सकता है। सर्वनाम के रूपों में विभक्ति-भेद किया जाता है। इसमें भी उच्चजातीय तथा निम्न-जातीय भेद पाया जाता है। उत्तम पुरुष एक बचन 'मैं' के लिये तामिल-यान्, तुळु-यानु, पुरानी कन्नड़-आम्, कुई-आनु, गोंडी-अना, तेलगु-एनु, कुरुख-एन, ब्राहुई-ई, मध्यम पुरुष एक वचन में तामिल-नी, तुळु-ई, कन्नड़-निम्,

कुई-ईनु, गोंडी-इम्मा, तेलगु-ईवु, नीवु, कुरुख-नीन, ब्राहुई—नी होता है। संज्ञा और क्रिया के रूप कभी कभी समान होते हैं। जैसे तामिल कोन-- राजा, कोन एन- मैं राजा हूँ। क्रिया और सर्वनाम के रूप भी एक में मिले होते हैं। जैसे तेलगु-उत्तम पुरुष एनु (सर्वनाम),-नु (क्रिया), मध्यमपुरुष ईवु, नीवु (सर्वनाम),-वु (क्रिया), अन्य पुरुष एक० वाड़ु (सर्वनाम), ड़ु (क्रिया), उत्तम पुरुष वहु० एमु (सर्वनाम), मु (क्रिया) मध्यम पुरुष बहु० ईरु (सर्वनाम), रु (क्रिया), अन्य पु० वहु० वाड़ु (सर्वनाम),—रु (क्रिया)। इस प्रकार की समानता गोंडी, कुरुख आदि अन्य विभाषाओं में भी मिलती है।

इनमें काल-भेद भी होता है। वर्तमान काल, भूतकाल तथा भविष्य काल के भेद निश्चित और अनिश्चित दो रूपों में होते हैं। संयुक्त क्रियाओं का भी प्रयोग होता है। आर्य भाषाओं के सदृश इनसे विशेष भावों का बोध कराया जाता है। सहायक क्रियाओं से विभिन्न अर्थों (moods), वाच्य, काल आदि का बोध होता है। कृदन्तों का प्रयोग भी व्यापक रूप से किया जाता है। कर्मवाच्य का प्रयोग नहीं होता, वाक्य-रचना की भी निजी विशेषताएँ हैं। वाक्य एक शब्द का भी होता है। यथा-गोंडी में नावोल (यह मेरा है)। प्रश्नवाचक वाक्यों को प्रश्नसूचक शब्दों को जोड़ कर बनाया जाता है। ब्राहुई में यह सुर से प्रकट किया जाता है।

———

४

हिन्दी तथा उसकी उपभाषाएँ

'हिन्दी' तथा तथा पूर्ववर्ती 'हिन्दुई' अथवा 'हिन्दवी' शब्द निस्संदेह 'हिन्द' शब्द से सम्बन्ध रखते हैं। अतएव व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'हिन्दी' सम्पूर्ण देश की भाषाओं के लिए उपयुक्त संज्ञा कही जा सकती है अर्वाचीन आर्य भाषाओं के इतिहास पर दृष्टिपात करने से भी ज्ञात होता है कि जनसाधारण के बीच अधिक व्यापक होने के कारण इसी भाषा का विशेष महत्व था और तभी उसे उक्त संज्ञा से संबोधित किया गया। परन्तु आज उसका अर्थ केवल उत्तर-प्रदेश तथा उसके आसपास के अन्य हिन्दी प्रदेशों की भाषाओं के लिए रूढ़ि हो गया है। इस दृष्टि से कथित प्रदेशवासी निस्संदेह दूरदर्शी या सारगृही कहे जा सकते हैं जिन्होंने अपनी भाषाओं को सुरक्षित रखते हुए भी 'हिन्दी' को अपने देश की भाषा के रूप में पहले से ही स्वीकार लिया है। पिछले दो-तीन दशकों से अन्य प्रदेशीय जनता भी उसे इसके मूल अर्थ के निकट ही पहुँचा रही है। इसकी बढ़ी हुई जन-शक्ति को ध्यान में रख कर ही भारतीय संविधान निर्माताओं ने सन् १९४९ में इसे राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार किया है।

इस देश की भाषा का यह नाम क्यों पड़ा इस पर भी विचार करना समीचीन होगा। 'हिन्द' या 'हिन्दू' शब्द फ़ारस-देशीय भाषा-

भाषियों की कृपा का फल है। भारत के पश्चिमी भू-भाग सिन्धु-प्रदेश से सबसे पहले उनका सम्पर्क होना स्वाभाविक था। फलतः सिन्धु नदी तथा उसके प्रदेश को उन्होंने अपनी बोल-चाल की भाषा में अपनी उच्चारण-प्रवृत्ति के अनुसार 'हिन्दु' तथा 'हिन्द' शब्द के रूप में व्यवहृत किया। यथा-सप्त-हप्त और सहस्त्र-हज़ार रूप में शब्दों के उच्चारण उनके लिए सुलभ थे यह अनुमान सहज ही में लगाया जा सकता है। उनकी 'ह' ध्वनि का उच्चारण हिन्दी 'स' ध्वनि की भांति संघर्षी व्यंजन के रूप में होता है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे भारत के अन्य पूर्वस्थ प्रदेशों से उनका सम्पर्क बढ़ता गया, वे इन प्रदेशों को स्वाभाविक रूप से 'हिन्दु-प्रदेश' कहते चले गए। जैसा मुनि कालकाचार्य से भी उन्होंने एक बार कहा था कि हम 'हिन्दु' प्रदेश में चलना चाहते हैं। इस प्रकार भारत 'हिन्द' देश, भारती 'हिन्दी' और भारतवासी 'हिन्दू' नाम से प्रसिद्ध हुए।

खड़ी बोली जिसका व्याकरणिक आधार लेकर आधुनिक साहित्यिक हिन्दी खड़ी हुई है, निस्संदेह देहली की भूमि की क्षेत्रीय बोली थी और उसका अभ्युदय भी अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं के साथ-साथ १००० ई० के पूर्व हो चुका था। काव्य-परम्परागत पिंगल-भाषा तथा नाथ-सम्प्रदाय के कुछ गद्य-ग्रन्थों में उसके व्याकरणिक रूपों के दर्शन किए जा सकते हैं। दो सौ वर्षों में बोल-चाल के द्वारा उसने सम्यक् विकास कर लिया, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। फलतः १३ वीं शताब्दी के अन्त में उसने साहित्यिक बाना भी धारण किया। उसके प्रारंभिक परन्तु पुष्ट साहित्यिक प्रयोग खुसरो की मुकरियों, पहेलियों में देखे जा सकते हैं। मैथिली एवं अवधी के विकास की भी लगभग यही दशा मिलती है। ब्रजभाषा का उत्थान साहित्यिक रूप में अवश्य देर से हुआ, क्योंकि काव्य-परम्परागत पिंगल भाषा जो कि शौरसेनी अपभ्रंश की पूर्ण उत्तराधिकारिणी थी उसी ब्रज-प्रदेश (शूरसेन) से सम्बन्ध रखती थी। परन्तु यह रूढ़िगत भाषा अधिक समय तक न चल सकी

और १५ वीं शताब्दी तक ब्रजप्रदेशीय जन-बोली ने उसका स्थान सहज ही में ले लिया। अपनी इसी स्थिति विशेप के कारण ब्रज-भाषा का साहित्य में सहज पदार्पण हो सका। वल्लभ-सम्प्रदायी सूर की सांगीतिकता तथा कृष्णभक्ति के प्रचार ने व्रज-भाषा को अपूर्व सहयोग दिया। व्रजभाषा को अपनाने में भक्तसमर्थकों का उद्देश्य नितान्त स्पप्ट था :—

सुरभापा तें अधिक है व्रजभापा सौं हेत
व्रजभूषण जाको सदा, मुखभूपण कर लेत ॥

व्रज-भाषा और कृष्ण के माधुर्य ने साहित्यिकों तथा रसिकों को अपनी ओर आर्कषित कर लिया। नवोत्थित खड़ी बोली का स्वर मन्द पड़ गया। तुलसी का समर्थन पाकर भी अवधी पनप न सकी। मैथिली-क्षेत्र पर भी व्रजभाषा ने अधिकार कर लिया। भक्ति-आन्दोलन ने व्रजभाषा का बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब प्रदेशों से भी परिचय कराया। परन्तु उसका विकास एकांगी ही होता रहा। वह भक्तों एवं साहित्यिकों की ही कंठहार बनी रही, जनता का सहयोग उसे नहीं मिल सका। इसमें गद्य का अभाव रहा। फलतः भक्ति एवं विलासीयुग के साथ-साथ व्रजभाषा का पतन अनिवार्य हो गया। दूसरी ओर खड़ी बोली जो जनता के बीच अपना स्थान बनाती जा रही थी, इस जन-युग में विजय प्राप्त कर सकी।

इस प्रकार १३वीं शताब्दी में अभ्युत्थित खड़ी बोली मुस्लिम सनिकों द्वारा तथा साधु-सन्तों द्वारा भारत के दूरस्थ प्रदेशों तक ले जाई गई। दक्षिणी हैदराबाद में इसका नाम 'दक्खिनी' पड़ना स्वाभाविक था क्योकि इस बोली का रूप उत्तर भारत का था जो कि दक्षिण में पनप रहा था। इसमें आधुनिक पंजाबी, बाँगरू तथा खड़ी बोली के पूर्व-रूपों की खिचड़ी मिलती है। शब्दों का चयन भी व्यावहारिक है। संस्कृत, अरबी एवं फ़ारसी के शब्द सीमित हैं, प्रचलित शब्द ही अपनाए हुये जान पड़ते हैं। १६वीं तथा १७वीं शताब्दियों में मुस्लिम-आधिपत्य व्यापक एवं स्थायी हो गया। फ़ारसी सरकारी भाषा बनाई गई

थी। अतः यह स्वाभाविक था कि उसमें अरबी, फ़ारसी शब्दों का प्राचुर्य हो। कबीर, सूर, तुलसी की भाषा में भी उक्त शब्दों का पर्याप्त संख्या में पाया जाना इस प्रवृत्ति का पूर्ण परिचायक है। दक्षिण में खड़ी बोली ने जो काव्य-रूप पाया था उसका रूप उत्तर भारत में अब बदल चुका था। शब्दों के साथ-साथ इस बोली रूप में फ़ारसी-छन्दों को भी अपनाया गया। संभवतः इसी कारण इसका नाम 'रेख्ता', 'रेख्ती' भी पड़ गया। अपने इस मध्ययुग में खड़ी बोली की सजीवता के दर्शन होते रहते थे। गंग, रहीम, शीतल तथा कुछ भक्त कवित्रियों के काव्य इसके उदाहरण हैं। पत्र-व्यवहार में इसका प्रयोग बढ़ चुका था। १८ वीं शताब्दी तक प्रौढ़ गद्य-रचना के भी उदाहरण मिलते हैं। यत्र-तत्र फ़ारसी शब्द-प्राचुर्य पाकर ही इंशाअल्ला खां को इस बोली को एक दूसरा रूप देना पड़ा जो 'हिन्दुई', 'हिन्दवी' नाम से अभिहित हुआ और बाद में 'हिन्दी' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस प्रकार हिन्दी का यह आधुनिक काल १८५७ ई० के बाद से प्रारंभ होता है। अंग्रेजी साम्राज्य की व्यापकता ने इसे पूर्ण सहयोग दिया। ईसाई-धर्म प्रचारकों को इसी व्यापक गद्य-भापा को अपनाना पड़ा। अंग्रेज राज-कर्मचारियों को भी जन-सम्पर्क बढ़ाने के लिए इसी भाषा का आश्रय ग्रहण करना पड़ा, ज्ञान-विज्ञान की अन्यान्य धाराओं के पठन-पाठन की आवश्यकता गद्य-भाषा द्वारा ही पूर्ण की जा सकती थी। फलतः ब्रज-भाषा की तुलना में खड़ी बोली को गौरव मिलना स्वाभाविक था। छापेखाने की सुविधा ने गद्य के विकास में योग दिया। परन्तु रेख्ता वाली प्रवृत्ति इतनी आगे बढ़ चुकी थी की इस गद्य-भाषा के दो रूपों में इतना वैभिन्न था कि अंग्रेजों द्वारा हिन्दी हिन्दुओं की तथा उर्दू मुसलमानों की भाषा के रूप में स्वीकृत हुई। इस अन्तर को महत्ता देना अंग्रेजों की भेद की नीति का पुष्ट प्रमाण है।

अतएव आधुनिक युग में खड़ी बोली (हिन्दी) को दुहरा सामना करना पड़ा। ब्रजभाषा की सहयोगी शक्तियों का ह्रास इस समय हो

चुका था। फलतः खड़ी बोली की विजय संभव हुई परन्तु अपनी प्रारंभिक कर्ण-कटुता के कारण इसे 'खड़ी बोली' के नाम का गौरव-भार अवश्य सहना पड़ा परन्तु बाद में द्विवेदी-युग के आसपास जब इसमें आवश्यक मधुरता आ गई तब ब्रजभाषा को काव्य-भाषा के पद से अलग होना पड़ा और खड़ी बोली (हिन्दी) गद्य एवं पद्य में पूर्ण विकास पाकर भारत की साहित्यिक भाषा बनी। बोलचाल की शक्ति पहले भी उसमें कम नहीं थी, धीरे धीरे जन-शक्ति को वहन करती हुई वह अपनी पूर्व भाषाओं से थोड़ा बहुत आगे बढ़ सकी है। इस प्रकार खड़ी बोली के दोनों रूपों (हिन्दी, उर्दू) में प्रतिद्वन्द्विता चलती रही। परन्तु भारत को मौलिक एकता बनाए रखने वाली जो सांस्कृतिक पृष्ठभूमि हिन्दी को प्राप्त थी वह उर्दू को नहीं थी। अतः वह शिक्षित मुसलमानों का ही पलड़ा पकड़ कर चलती रही। सामान्य मुस्लिम जनता ने भी दुख-सुख में साथ देने वाले अपने पड़ोसी भाइयों की बोली में साथ दिया और इस प्रकार हिन्दी की व्यापकता बढ़ती गई। उर्दू को पीछे घसीटने वाली उसकी अरबी-फ़ारसी लिपि थी, जो भारतीय भाषाओं के लिए पूर्ण अवैज्ञानिक थी। फलतः खड़ी बोली हिन्दी-रूप के वहन करने में वह पूर्ण असमर्थ रही यदि उर्दू ने देवनागरी लिपि का बाना पहना होता तो निस्संदेह राष्ट्रभाषा हिन्दी का जो रूप आज है, वह उससे कुछ भिन्न होता। इस प्रकार हिन्दी अपने मूल अर्थ के निकट तक पहुँचती गई और अंत में नियमित रूपसे १९४९ ई० में जैसा कि पहले कहा जा चुका है वह गणतंत्र भारत की राष्ट्र-भाषा घोषित कर दी गई।

इस प्रकार प्राप्त हिन्दी के तीन स्वरूपों का आभास हमें मिलता है, १. राष्ट्र-भाषा का रूप जो अभी प्रदेशीय रूपों के पुट के कारण अव्यवस्थित है परन्तु शीघ्र ही एक व्यवस्थित रूप खड़ा हो सकेगा, जो देश के उच्च शिक्षालयों, न्यायालयों का माध्यम बनेगा तथा सरकारी कार्यों में एकरूपता लाकर भिन्न-भिन्न प्रान्तों में सहयोग स्थापित करेगा।

२. हिन्दी का वह रूप है जो कि अमृतसर से लेकर भागलपुर तक तथा हिमालय से लेकर नर्मदा तक फैला हुआ है । इस भू-भाग के मध्य हिन्दी प्रारंभिक शिक्षा का माध्यम है, पत्र-पत्रिकाओं द्वारा साहित्यिकों के बीच सम्बन्ध स्थापित किए हुये है । यह सरकारी कार्यों में भी अंग्रेज़ी के साथ वैकल्पिक रूप से अपनाई जा रही है ।

३. एक रूप और, जो कि उसके वास्तविक क्षेत्रीय रूप के सन्निकट है, खड़ी बोली वाला । भाषा और बोली का मुख्य ध्येय पारस्परिक विचार-विनिमय मात्र है । यदि दो भिन्न क्षेत्रीय व्यक्ति उक्त ध्येय के परिपालन में असमर्थ हैं तो वे भिन्न भाषा-भाषी कहे जाएँगे और यदि समर्थ हैं तो एक ही भाषा के अन्तर्गत आने वाले भिन्न बोली-रूपों को अपनाए जाने वाले कहे जाएँगे । इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्तियों की शिक्षा, ज्ञान, भ्रमण, एवं अनुभव का आपस में बहुत अंतर होता है, इसलिए विचार-विनिमय के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को चुनना चाहिए जो कि आनुपातिक दृष्टि से तीनों बातों में साधारण ही हो और यदि इस प्रकार का माप-दंड लेकर हम देहली से चलें तो निश्चय ही वह व्यक्ति बनारस, गोरखपुर, बलिया के व्यक्तियों से विचार-विनिमय कर सकता है । यदि यह विचार-विनिमय ७५ प्रतिशत भी हो जाता है तो हमें उक्त बोली-रूपों को एक ही भाषा में रखना चाहिए । यदि केन्द्र देहली से उठकर आगरा या कानपुर रख दें तो भी कोई विशेष अन्तर इस सीमा का न पड़ेगा । यदि लखनऊ रखें तो हो सकता है कि क्षेत्र पटना तक व्यापक हो सके, इसलिए हम किन्हीं दो सिरों को लेकर विचार-विनिमय का ७५ प्रतिशत अनुपात समझ कर उक्त बोली-रूपों की किसी एक साहित्यिक प्रचलित भाषा के अन्तर्गत रख सकते हैं ।

निष्कर्ष यह निकलता है कि उत्तर में देहली से लेकर पूर्व में बनारस, गोरखपुर तक के बोली-रूप हिन्दी के अन्तर्गत ही आते हैं । इस प्रकार हिन्दी की बोलियां खड़ी बोली, बाँगरू, व्रज, कनौजी, बुंदेली,

अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी पश्चिमी भोजपुरी हुईं। दूसरे नंबर में गिनाए हुए भू-भाग के बोली-रूपों को हम अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से 'विभाषा' की संज्ञा दे सकते हैं, जिसके अन्तर्गत राजस्थानी, पंजाबी, विहारी भाषाएँ आ सकती हैं।

विहारी-विभाषा के अन्तर्गत पाये जाने वाले बोली-रूप भोजपुरी मैथिली, मगही आदि को हम हिन्दी के बोलियों के अन्तर्गत गिनते चले आ रहे हैं। वस्तुतः यह दृष्टि साहित्यिक विशेष है, इसमें भाषा-विज्ञान की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति उतनी नहीं है। परन्तु कुछ भाषा-विज्ञानी मूल स्रोत को ही सब कुछ समझकर अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि को हिन्दी के अन्तर्गत ले आने में झिझकते हैं परन्तु वे यदि विज्ञान की शुद्धि विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति रखें तो विहारी बोलियों को सरलता से हिन्दी के अन्दर लाने के पक्षपाती हो सकेंगे।

राजस्थानी पर भी हिन्दी का प्रभाव पड़ा है पर साहित्यिक दृष्टि से ही। मुसलमानों के प्रसार के कारण १७वीं शताब्दी तक वहाँ खड़ी बोली के पैर नहीं जमे, जबकि पूर्व में खड़ी बोली का फैलाव होता ही गया। इसलिए आज भी विहारी भाषाओं में हिन्दी का प्रभाव बहुत अधिक है। फलतः उत्पत्ति की दृष्टि से मागधी-प्रसूत होने पर भी बिहारी बोलियाँ सरलता से हिन्दी की जन-बोली के निकट आ जाती हैं। इतना ही नहीं हिन्दी में आत्मसात् करने की वही गौरवपूर्ण शक्ति है जो कि भारतीय संस्कृति में मिलती है, फलस्वरूप हम अनुमान लगा सकते हैं कि आने वाले समय में वह विहार ही क्यों बंगाल के जन-समाज में भी प्रवेश करेगी। संस्कृत भी जन-रूप में जितनी व्यापक नहीं हुई थी, उससे कहीं अधिक हिन्दी होगी इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं है। साथ ही भिन्न भिन्न क्षेत्रीय प्राकृत, अपभ्रंश भी जिस प्रकार साहित्य-रचना में समर्थ हुईं, उसी प्रकार बंगला, गुजराती, मराठी आदि साहित्य संपन्न भाषाएँ हैं और उनके साहित्य-सृजन की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जायेगी, यह आशा की जा सकती है।

हिन्दी शब्द-समूह

'शब्द' भाषा का एक महत्वपूर्ग अंग है। भाषा की आदिकालीन अवस्था में भाषा का सुगठित अवयव 'वाक्य' भी संभवत: शब्दात्मक रहा होगा, यह पहले कहा जा चुका है। व्याकरणिक सम्पत्ति की खोज तथा शब्दों का ध्वनियों में विच्छेदन वैयाकरणों की देन कही जा सकती है। 'शब्द' और 'अर्थ' में ठीक उसी प्रकार का महत्वपूर्ण संबंध है जिस प्रकार शरीर और प्राण का है। शब्द और अर्थ-का सम्बन्ध नित्य है इसका विस्तृत विवेचन अर्थ-विकास के प्रसंग में किया जा चुका है। शब्द के उच्चरित होते ही उसकी अर्थ-बोध करानेवाली पदार्थ विशेष अथवा सम्बन्ध विशेष की प्रतिमा मस्तिष्क में झूलने लगती है। ठीक इसी प्रकार किसी नए समाज से सम्पर्क बढ़ने पर, हमारा जो पदार्थ एवं संबंध-ज्ञान बढ़ता है, उसके लिए नए शब्द या तो हम गढ़ लेते हैं, या फिर उस समाज में प्रचलित शब्दों को ही अपना कर अपनी शब्द-समृद्धि करते हैं। शब्द-सम्पत्तिकी समृद्धिके लिए दो ही प्रधान साधन हैं—

१. नये शब्दों का गढ़ना

२. जाति विशेष के शब्दों को अपनाना

इन पर विशेष रूप से चर्चा करने के पूर्व हिन्दी की अपनी शब्द-सम्पत्ति पर विचार कर लेना अधिक उपयुक्त होगा। हिन्दी, आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का प्रतिनिधित्व करती है। यह भारत की राष्ट्र-भाषा है तथा उद्भव और विकास की दृष्टि से संस्कृत की सच्ची उत्तराधिकारिणी है। प्राकृत वैयाकरणों ने अपनी भाषाओं के शब्द-समूह का अध्ययन करते हुए प्राकृत में पाए जाने वाले शब्दों की तीन कोटियाँ निर्धारित की थीं। हिन्दी के लिए भी हम उनको आधार बना सकते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. तत्सम २. तद्भव ३. देशज। इन पारिभाषिक शब्दों के मूल अर्थ के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों के बीच पर्याप्त मत-भेद रहा है, उसी की संक्षिप्त विवेचना यहां की जा रही है।

तत्सम्

इसका शाब्दिक अर्थ है 'उसीके समान'। संस्कृत अथवा वैदिक बोलिया प्राकृत भाषाओं की मूल प्रकृति रही हैं। अतएव प्राकृत भाषाओं को साहित्य और समाज में पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाने पर आवश्यकतानुसार जो संस्कृत-शब्दावली अपने विशुद्ध उच्चारण के साथ प्राकृत भाषाओं में अपनाई गई, उसे प्राकृत वैयाकरणों ने 'तत्सम्' शब्दावली की संज्ञा दी है। ठीक यही अर्थ हम 'हिन्दी' के लिए भी अपना सकते हैं, और कह सकते हैं कि १००० ई० के पश्चात् जो संस्कृत-शब्द अपने विशुद्ध उच्चारण के साथ हिन्दी शब्द-समूह में सम्मिलित हुए और हो रहे हैं, वे तत्सम शब्द कहलाएंगे। इस प्रकार तत्सम् शब्दावली की दो विशेषताएं स्पष्ट हुई :—

१. हिन्दी भाषा का पूर्ण प्रतिष्ठित होना
२. संस्कृत के उच्चारण सहित शब्दों का प्रयोग

यदि शाब्दिक अर्थ पर विचार करें तो संस्कृत की ही क्यों, हिन्दी के लिए पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं की शब्दावली यदि विशुद्ध उच्चारण के साथ अपनाई जाती है, तो यह तत्सम् शब्दावली कहलाएगी। यथा-संस्कृत-तत्सम कर्म, कार्य, कुमार; प्राकृत तत्सम कम्म, कज्ज, कुंवर। इसी प्रकार अन्य भाषाओं को भी लिया जा सकता है, यद्यपि 'तत्सम्' का अर्थ संस्कृत-शब्दावली के लिए ही रूढ़ि हो गया है। यदि अंग्रेजी आदि भाषाओं के उच्चारण की विशुद्धता पर आक्षेप किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि उच्चारण यथासंभव अपनी अपनी भाषाओं के अनुसार हो जाया करता है। यथा 'डॉक्टर' को 'डाक्टर' ही कहेंगे, 'ऑ' के स्थान पर 'आ' का प्रयोग हिन्दी की प्रवृत्ति है। संस्कृत राम को भी हम राम् ही कहते हैं और यदि 'राम' हिन्दी के लिए संस्कृत तत्सम् है तो 'डाक्टर' शब्द भी। सिद्धान्त-कथन में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता। हिन्दी में संस्कृत तत्सम् शब्दों का प्राचुर्य सूर, तुलसी के समय से हुआ। आधुनिक युग मे यह प्रवृत्ति और भी अधिक बढ़ गई है। इससे हिन्दी का लाभ ही हुआ.

है । हिन्दी-व्याकरण की सरलता तथा संस्कृत शब्दों की मधुरता एवं भाव-प्रकाशन शक्ति का मणिकांचन संयोग हिन्दी की व्यापकता के लिए अपूर्व उपयोगी सिद्ध हो रहा है ।

तद्भव

इसका शाब्दिक अर्थ है--उससे उत्पन्न । 'तत्' यहां भी संस्कृत अथवा वैदिक बोलियों की ओर संकेत करता है । हिन्दी के लिए वे शब्द तद्भव हैं जो कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि पूर्वजा भाषाओं से होते हुए हिन्दी भाषा में आए हैं । यदि शाब्दिक अर्थ पर विचार करें तो क्या दमड़ी और सिमई जैसे शब्द जो कि अपना मूल यूनानी भाषाओं में रखते हैं और संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं से परिवर्तित होते हुए आने के कारण हिन्दी के तद्भव शब्दों में गिने जाने चाहिए अथवा अनार्य भारतीय भाषाओं के शब्द जो कि संस्कृत ने प्रचुरता से अपनाए थे, हिन्दी के लिए तद्भव हैं अथवा नहीं ? और भी, अनार्य भाषाओं अथया अरबी, फ़ारसी के वे शब्द जो प्राकृत भाषाओं से होते हुए ही आए हैं, हिन्दी के लिए तद्भव हैं अथवा नहीं ? आदि प्रश्न विचारणीय हैं । प्राकृत वैयाकरणों का मार्ग प्रशस्त था । पूर्वजाओं में केवल संस्कृत थी । यूनानी आदि शब्दों पर या तो विचार नहीं किया या फिर संस्कृत द्वारा अपनाए जाने के कारण 'तद्भव' कोटि में ही रखा गया । अनार्य भाषाओं की शब्दावली अधिकाधिक स्वयं प्राकृत भाषाओं ने अपनाई थी, अतएव 'देशज' कहलाई । परन्तु संभवतः उस शब्दावली पर विचार नहीं हुआ जो कि संस्कृत द्वारा अपना ली गई थी, वह स्वभावतः 'तद्भव' ही कहलाई क्योंकि वह संस्कृत से सम्बन्धित थी । इसी प्रवृत्ति विशेष को यदि हम आधार बनाएँ तो कह सकते हैं कि हिन्दी में पाए जाने वाले वे सभी शब्द तद्भव हैं जो १००० ई० के पूर्व किसी भी हिन्दी की पूर्वजा भाषा द्वारा गृहीत हो चुके थे । यह बात दूसरी है कि हिन्दी शब्दों की व्युत्पत्ति पर गहन अध्ययन करते समय हम शब्दों के मूल स्रोतों का पता चलाएँ और भाषा के माध्यम से भारत के ऐतिहासिक

सम्बन्धों को स्पष्ट करें। कोई भी भाषा शब्द-समूह की दृष्टि से विशुद्ध नहीं है। प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक न जाने कितनी जातियां भारत में आईं। अतः यह स्वाभाविक है कि उनकी कुछ न कुछ शब्दावली हमने ग्रहण की होगी। नस-नस में भिदा हुआ 'गंगा' शब्द भी चीनी भाषा से आया हुआ माना जाता है और उसका मूल चीनी-मंगोलियन शब्द—खांग, क्यांग शब्दों में खोजा जाता है। हिन्दी के कुछ 'तद्भव' शब्द इस प्रकार हैं—

हि० काम ∠प्राकृत-कम्म ∠ सं० कर्म, दाम ∠ प्रा० दम्म ∠ सं० द्रम्य (ग्रीक द्रख्म), हिं० बैंगन ∠ सं० वातिंगन (आस्ट्रिक भाषाओं से लिया हुआ)।

अर्ध-तत्सम्

शब्द-समूह के अध्ययन के लिए यह एक नई कोटि है। प्राकृत वैयाकरणों ने इसकी चर्चा नहीं की है। 'तत्सम' की ऊपर कही हुई दो विशेषताओं में एक इस कोटि द्वारा भी गृहीत है। प्रायः १००० ई० के पश्चात् ही जो शब्द हिन्दी द्वारा गृहीत होंगे, वही अर्ध-तत्सम् कहलायँगे। साथ ही जो हिन्दी के अपने उच्चारण के अनुकूल परिवर्तित करके अपनाए गए है और इस प्रवृत्ति के अनुसार 'तत्सम्' से कुछ भिन्नता भी रखते हैं। यथाः—सं० कर्म 7 हिन्दी करम (अर्ध-तत्सम्), सं० कार्य 7 हिं० कारज (अर्ध-तत्सम), सं० ऋषि 7 हिं० रिसि (अर्ध-तत्सम)।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि इन शब्दों के विकास में संयुक्त ध्वनियों की विभक्तता ही प्रधान है जो कि हिन्दी की अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस प्रकार संस्कृत के वे शब्द ही अर्ध-तत्सम् कहे जाते हैं, जो संयुक्त ध्वनियों के संयोग के कारण हिन्दी के लिए क्लिष्ट थे और हिन्दी में 'स्वर-भक्ति' की प्रवृत्ति से उनका उच्चारण सुलभ बना लिया गया है। यदि शाब्दिक अर्थ पर विचार करें तो अंग्रेज़ी, फ्रेंच, पुर्तगाली तथा अधिकांश अरबी, फ़ारसी शब्दावली हिन्दी की 'अर्धतत्सम्' कोटि में ही आएगी क्योंकि विशुद्ध उच्चारण उतना सुलभ नहीं। यथाः—

अं० लार्ड7लाट, हास्पिटल7अस्पताल, तुर्की क़ुली 7कुली, फ़ा०ज़्यादह 7 ज्यादा, अं० लौंगक्लोथ 7 लंकलाट, काइनहाउस 7 कांजीहौज ।

'तत्सम्' और 'अर्ध-तत्सम' के अध्ययन के लिए सुविधा एवं स्पष्टता इसी बात में है कि हम इन पारिभाषिक शब्दों के रूढ़िगत अर्थ को ही अपनाएँ और संस्कृत-शब्दावली का ही विभाजन इन कोटियों में करें और विदेशी शब्दावली को अपनाने वाली विभिन्न प्रवृत्तियों के लिए दूसरी पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण करें ।

देशज

इसका शाब्दिक अर्थ है—'देश की भाषाओं में उत्पन्न शब्दावली'। प्राकृत वैयाकरणों के इस पारिभाषिक शब्द ने शब्द-समूह के वर्गीकरण में एक अव्यवस्था ला दी है। आचार्य हेमचन्द्र की 'देशी' शब्द की व्याख्या से भी प्रश्न नहीं सुलझता। वे 'देशी' के अन्तर्गत केवल उन शब्दों को लेते हैं जो संस्कृत से सम्बन्धित एवं संदर्भित नही किए जा सकते। यह संकेत निस्संदेह द्राविड़, मुंडा आदि आर्येतर भाषाओं की शब्दावली की ओर है, परन्तु 'देशी-नाममाला' में दी हुई सूची से ज्ञान हो जाता है कि आर्येतर शब्द-समूह भी जो संस्कृत ने ग्रहण कर लिया था, 'देशज' नहीं कहलाया। यदि प्राकृत वैयाकरणों की इस प्रवृत्ति को हिन्दी शब्दसमूह पर भी लागू किया जाय, तो हम कह सकते हैं कि आर्येतर शब्दावली जो हिन्दी की पूर्वजा भाषाओं–संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश ने ग्रहण कर ली थी वह हिन्दी के लिए 'देशज' नहीं कहला सकती। इस भाषाओं की अधिकांश शब्दावली प्राकृत भाषाओं ने ही पचाई थी इसलिए यदि शाब्दिक अर्थ पर ज़ोर दिया जाय तो हिन्दी के लिए यह शब्दावली 'तद्भव' होगी अन्यथा हम इसे भाषाओं की कोटि में रखेंगे और विशेष अध्ययन के लिए द्राविड़, आस्ट्रिक, चीनी, तिब्बती या तेलगू, तामिल, मुंडा आदि भेद-उपभेद कर सकते हैं।

देशज का यदि राष्ट्रपरक अर्थ लेते हैं तो दूसरा अर्थ भाषापरक हो सकता है और इस प्रकार हिन्दी भाषा-भाषी आवश्यकतानुसार

जो शब्दावली गढ़ते रहते हैं, वह 'देशज' के अन्तर्गत आनी चाहिए। 'देशी-नाममाला' में इस प्रकार के अधिकाधिक शब्द हैं जो अनार्य भाषाओं से भी सम्बन्धित और संदर्भित नहीं किए जा सकते। फलतः देशज का उक्त अर्थ तर्कसंगत है। जैसे मोटर के 'हार्न' की ध्वनि कोई भों-भों सुनता है, कोई पों-पों, संभवतः इसलिये 'हार्न' के लिये "भोंपू" शब्द हिन्दी में चल निकला। इस प्रकार हिन्दी क्या, प्रत्येक भाषा अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल शब्द गढती रहती हैं। गढ़े हुए शब्दों में अधिकांशतः ध्वन्यात्मक शब्द आते हैं जो कि पदार्थ विशेष अथवा वाह्यप्रकृति की ध्वनियों का अनुकरण करके उक्त पदार्थ के लिए अथवा प्रकृति तत्क्रिया विशेष के लिए प्रयोग में आने लगते है और भाषा की ध्वनि-परिवर्तनशीलता के साथ साथ अपनी आकृति भी बदलते जाते हैं। स्वाभाविकता लाने के लिए इन शब्दों का प्रयोग साहित्य में भी यत्र-तत्र पाया जाता है। राष्ट्रकवि गुप्त जी में इस प्रकार के बहुत से शब्द मिल जाएंगे। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

छप-छप—पानी में हाथ द्वारा किए गए आघात की ध्वनि, कल-कल—पत्थरों से टकराती हुई ध्वनि, बल-बल—प्रभूत पानी का आपस में टकराना, झल-मल—पानी या तरल पदार्थ पर पड़ने वाली रोशनी, जग-मग—ठोस पदार्थ पर पड़ने वाली रोशनी, छपाछप, तड़ातड़ आदि—निरन्तरता एवं गुरुता का ज्ञान कराने वाली ध्वनि-संयोजना।

इस प्रकार की शब्दावली किसी भाषा में कम नहीं है, इससे भाषा की अर्थ-वृद्धि होती है, साथ ही भाषा में प्रवाह आता है और साहित्य में उनके प्रयोग से स्वाभाविकता की रक्षा होती है। रोटी-ओटी, अड़ोस-पड़ोस आदि द्वन्द्वात्मक शब्दों की भी कमी नहीं है, इनका एक शब्द निस्संदेह आधुनिक रूप में ही गढ़ा गया है, परन्तु यह सादृश्य की प्रवृति है, जिसके कारण हम उन शब्दों को संस्कृत से संदर्भित कर सकते हैं और इस प्रकार की शब्द-योजना को 'तद्भव' के अन्तर्गत ले जा सकते हैं।

अनार्य भाषाओं के शब्द

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह शब्दावली उपभेदों के रूप में रखी जा सकती है, क्योंकि इस प्रकार का वर्गीकरण हमारे विशेष अध्ययन में सहायक सिद्ध होता है। वैसे इन भाषाओं की अधिकांश शब्दावली हिन्दी में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं से होती हुई ही आई है। १००० ई० के पश्चात् जो ली गई वह अत्यल्प है।

विदेशी

भारत भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का सन्धि-स्थल रहा है, प्रागैतिहासिक काल से लेकर अद्यावधि भारत में दूर देशस्थ जातियाँ आती रही हैं, अतः यह स्वाभाविक है कि उक्त देशीय नवीन शब्दावली भारत की राष्ट्र-भाषा द्वारा अपनाई जाए। आधुनिक युग में आनेवाली ऐसी अधिकांश शब्दावली हिन्दी में अंग्रेजी के माध्यम से आई हुई जान पड़ती है। जैसे—१. **'हिटलरपन'** नहीं चलेगा (जर्मन)।

२. उन सब चीजों का **'बायकाट'** कर दो (आयरी)।

१००० ई० के पश्चात् आने वाली शब्दावली हिन्दी में विशेष स्थान रखती है। अरबी, फ़ारसी से मुस्लिम आधिपत्य के युग में इतने शब्द हिन्दी में भर गए कि खड़ी बोली का आकार-प्रकार ही बदल गया और हिन्दी के साथ साथ कुछ लोगों को दूसरे प्रकार के लिए 'उर्दू' नाम भी देना पड़ा। मुसलमान यहाँ आकर बस गए। फलस्वरूप शासकीय शब्दावली के साथ सांस्कृतिक शब्दावली भी आई। बहुत से शब्द तो हिन्दी के रग-रग में इस प्रकार से बस गए हैं कि ज़िन्होंने हिन्दी के अपने शब्दों का नितान्त बहिष्कार कर दिया है। उदाहरणस्वरूप-खरीदना (क्रिया), पायजेब, बाजूबन्द, हज़ार आदि।

इस प्रकार की सांस्कृतिक शब्दावली हज़ारों की संख्या में हिंदी में भरी पड़ी है। साहित्यिकता के आडम्बर में चाहे हम सतर्क रह कर उनका प्रयोग न करें परन्तु बोल-चाल की भाषा में ९० प्रतिशत व्यक्ति पर्याप्त संख्या में इस शब्दावली का प्रयोग करते हैं। स्वस्थ दृष्टिकोण

भी यही है कि हिन्दी भाषा की प्रवृत्ति उन शब्दों को पचाने की ही ओर हो, आडम्बर की ओर झुकाव नहीं होना चाहिए।

अंग्रेज़ी शब्दावली का भी प्रयोग १९वीं शताब्दी से बराबर होता रहा है।। परन्तु यह या तो शासकीय है या वैज्ञानिक विषयों से सम्बन्धित। यूरोपीय वेश-भूषा, खान-पान का अनुकरण भी शिक्षित भारतीय समाज ने किया है, फलतः तत्सम्बन्धी शब्दावली भी आवश्यकतानुसार हिन्दी-भाषा में प्रवेश कर गई है। विचार-विनिमय एवं यातायात की जो सुविधाएं आज के विश्व-समाज को प्राप्त हैं, उससे यह निश्चय है कि भाषा के शब्दसमूह में इस प्रकार का लेन-देन बढ़ेगा ही।

राष्ट्र-भाषा हिन्दी

पहले उर्दू और हिन्दी भाषाओं की प्रतिद्वंद्विता का उल्लेख किया जा चुका है। भारतीय स्वतंत्रता के बाद जब से हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन की गई है उसकी समस्याओं का समाधान करने में सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाएँ प्रयत्नशील हैं। राष्ट्रभाषा संबन्धी समस्याएँ प्रायः तीन प्रकार की हैं—एक शब्द-भंडार सम्बन्धी, दूसरी व्याकरण संबन्धी, तीसरी लिपि संबन्धी। राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ देवनागरी लिपि राजकीय लिपि घोषित की गई है जिसका विस्तृत विवरण आगे लिपि के अध्याय में दिया गया है। यहां पर हिन्दी-भाषा के भावी रूप पर विचार करना ही समीचीन होगा।

जन-शक्ति को वहन करने वाली राष्ट्रभाषा का शब्द-भंडार किस प्रकार का हो इस संबन्ध में राजनीतिज्ञों, साहित्यिकों तथा भाषाविदों के विभिन्न मतों को हम इस प्रकार संग्रहीत कर सकते हैं।

१—संस्कृत-प्रधान शब्दावली ही बंगाल, असाम, उड़ीसा, महाराष्ट्र तथा भारत के विभिन्न प्रदेशों को एक सूत्र में बांध सकती है क्योंकि संस्कृत भारतीय भाषाओं के लिये उस कामधेनु के समान है जिससे जब चाहा शब्द-दोहन कर लिया। आर्य भाषाएँ ही नहीं वरन्

द्राविड़ परिवार की संवृद्धशाली भाषाएँ-तामिल, तेलगु आदि भी अपने परपरागत साहित्यिक रूपों में सस्कृत की शब्दावली ग्रहण करती रही है। संस्कृत ही भारतीय संस्कृति को वहन करने वाली और भारत की मौलिक एकता बनाये रखने मे समर्थ रही है। इसलिये अपनी सांस्कृतिक तथा राजनीतिक एकता को ध्येय में रखते हुए हमे संस्कृत-शब्दावली को अधिकाधिक अपनाना चाहिये। बंगला, मराठी, गुजराती आदि जितनी भी साहित्यसंवृद्ध भाषाएँ है वे हिन्दी की भांति लगभग ७५ प्रतिशत शब्द संस्कृत से उधार लिये हुए है।

२—हिन्दी का सरल रूप जिसमे फ़ारसी, अरबी, अंग्रेज़ी आदि शब्दों का यथेष्ट व्यवहार होता है वह जनसाधारण के लिये अधिक सहज और सुगम है। हिन्दी का यह चलताऊ रूप ही सर्वग्राह्य है। फ़ारसी, अरबी, अंग्रेजी शब्द भारत की प्राचीन राजकीय सत्ता के फलस्वरूप हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं में आये है और वे इतने अधिक व्यावहारिक हो चुके है कि उनका बहिष्कार किसी भी दशा में वांछनीय नही है। उक्त विदेशी भापाओं से नये-नये शब्द भी लिये जा सकते हैं क्योंकि उस ढंग के शब्द पहले से ही भारतीय तथा हिन्दी भाषाओं में वर्तमान है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के मतों का अपना-अपना आधार तो है ही। किन्तु संस्कृत शब्दावली पूर्वी उत्तरप्रदेश, विहार, नैपाल, बंगाल, असाम, उड़ीसा, आन्ध्र, तामिलनद, कर्नाटक, केरल, बंबई, मध्यप्रदेश आदि प्रदेशों की भाषाओं में बहुतायत से प्रयुक्त हुई है यह एक सत्य है और संस्कृत-शब्दबहुला हिन्दी ही इन प्रदेशों में लोकप्रिय हो सकती है। यह अवश्य है कि हिन्दी में विदेशी भाषाओं में जो शब्द प्रचलित हो गये है और घुलमिल गये हैं उनका प्रयोग वांछनीय है जिनसे कोई नई वस्तु, नये विचार, नये संबंध का बोध होता हो और वे पहले से अपनी भारतीय भाषाओं में न पाये जाते हों। राष्ट्रभाषा के शब्द-भंडार को परिपूर्ण बनाने के लिये प्रादेशिक भाषाओं तथा हिन्दी की उपभाषाओं से भी शब्द लिये जा सकते हैं। जहां हम संस्कृत की ओर उन्मुख हों

वहां हिन्दी की सजातीय, भाषाओं की ओर से मुखापेक्षी भी न रहें। हां, यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में किसी नये भाव, नई वस्तु आदि के लिये शब्द न मिलें तो फिर संस्कृत-शब्द अपनाना ही समीचीन होगा।

राष्ट्रभाषा के माध्यम से वैज्ञानिक, टेक्निकल तथा अन्य विशिष्ट विषयों का अध्ययन और अध्यापन हो, इसके लिये इन विषयों से संबंधित पारिभाषिक शब्दावली की नितांत आवश्यकता है। किन्तु इसके अपनाये जाने के संबन्ध में कोई एक मत नहीं पाया जाता।

१—कुछ इस मत के हैं कि चिकित्सा-शास्त्र, विविध वैज्ञानिक विषय—रसायन-शास्त्र, भौतिक शास्त्र आदि, कानून, वाणिज्य-शास्त्र आदि विशिष्ट विषयों के पारिभाषिक शब्द अंग्रेज़ी के ही रहें क्योंकि इनसे अन्तर्राष्ट्रीय संबन्ध सुदृढ़ रखने में सरलता होगी। नये-नये विदेशी अनुसंधान संबंधी विषयों के पारिभाषिक शब्द भी विदेशी ही रहें तो क्या हानि है ! इससे राष्ट्रभाषा की सुसंपन्नता में कोई कमी नहीं आती।

२—दूसरा मत इसके विपरीत है। संस्कृत धातुप्रधान भाषा है। इसमें नये-नये शब्दों के निर्माण करने की शक्ति है। अतएव पारिभाषिक शब्दों को संस्कृत के सांचे में ढाल लेना चाहिये। संस्कृत में बने नये पारिभाषिक शब्द अंग्रेज़ी आदि की अपेक्षा अधिक सुलभ और जन-ग्राह्य होंगे। यूरोपीय देशों में आधुनिक इटैली, फ्रेंच, स्पेनी, पुर्तगाली, रोमानी, अंग्रेजी आदि भाषाएँ लेटिन और ग्रीक भाषाओं से ही अपनी आवश्यकतानुसार शब्दों को उधार लेती रही है तथा नये-नये शब्दों का निर्माण भी वे इन प्राचीन भाषाओं के आधार से करती आई हैं। अतएव भारतीय भाषाएँ भी संस्कृत जैसी प्राचीन भाषा के आधार से शब्द-निर्माण करने में स्वतंत्र है।

प्रायः यह ठीक ही है कि कोई भी नई राष्ट्रभाषा अपने विकास-काल में प्राचीन भाषा से या तो विशिष्ट शब्दों को उधारस्वरूप लेती है या उसके आधार से नये-नये शब्दों का निर्माण करती है। भारत की भाषा संस्कृत प्राचीन काल से ही हमारी संस्कृति की एक गण्यमान

भाषा रही है, यह पहले कहा जा चुका है। अतः नई पारिभाषिक शब्दावली के लिये उसकी ओर उन्मुख होना स्वाभाविक ही है। इस दिशा का सर्वप्रथम प्रयास डा० रघुवीर का पारिभाषिक शब्दकोष है। इस पर काफ़ी टीका-टिप्पणी हुई किन्तु उनका यह प्रयास इस दृष्टि से स्तुत्य है कि उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि संस्कृत के आधार पर पारिभाषिक शब्दों का नव-निर्माण संभव है। हमें पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में उदार दृष्टि से काम लेना चाहिये। बहुत से ऐसे विशिष्ट शब्द है जो विदेशी होते हुए भी काफ़ी व्यवहृत होते हैं और उनके लिये कोई नयी शब्दावली बनाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। उन्हें हम अपनी हिन्दी-ध्वनियों का आवरण देकर अपना लें तो कोई असंगत बात नहीं होगी। उत्तरप्रदेशीय तथा कुछ अन्य प्रादेशिक सरकारों ने भी इस ओर कुछ प्रयत्न किया है। केन्द्रीय सरकार ने शिक्षा-विभाग के अन्तर्गत पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण हेतु एक समिति की आयोजना की है जिसकी देखरेख में विशेषज्ञों के द्वारा हज़ारों पारिभाषिक शब्दों का गठन हो चुका है। इन विशिष्ट शब्दों को निर्माण का आधार प्रायः संस्कृत-भाषा ही है किन्तु यह संतोष की बात है कि केन्द्रीय सरकार की उक्त समिति ने ऐसे विदेशी शब्दों को भी स्वीकार किया है जो जनप्रचलित हो चुके हैं। नव पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का प्रयत्न सराहनीय अवश्य है किन्तु यह खेद की बात है कि उसकी गति तीव्र होने की अपेक्षा मन्द अधिक है।

यह निश्चित है कि विशिष्ट विषयों से संबधित पारिभाषिक शब्द प्रारंभ में कुछ विलक्षण अवश्य लगेंगे किन्तु ज्यों ज्यों उनका व्यवहार बढ़ता जायेगा उनकी विलक्षणता भी कम होती जायेगी और वे भाषा के स्वाभाविक शब्द बन जायेंगे। राष्ट्रभाषा की इस संधिकालीन स्थिति में भारतीय और विदेशी दोनों प्रकार के पारिभाषिक शब्द एक साथ प्रयुक्त किये जा सकते हैं। जब राष्ट्रभाषा का शब्द प्रचलित हो जायं तो विदेशी शब्द को त्यागा जा सकता है।

३—राष्ट्रभाषा को व्यापक बनाने के लिये हिन्दी भाषा के व्याकरण संबंधी रूपों में कुछ परिवर्तन किया जाय, यह कुछ विद्वानों की आकांक्षा है। प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने हिन्दी की संज्ञा, सर्वनाम आदि के विकारी एक वचन और बहुवचन रूपों के संबन्ध-चिह्नों, लिंग-भेद के अनुसार शब्दों के परिवर्तन, क्रिया में पुरुष तथा वचन के अनुसार काल-भेद, सकर्मक क्रिया का भूतकाल में कर्म-वाच्य के प्रयोग आदि बातों के निराकरण का प्रस्ताव किया है। उनके मता-नुसार हिन्दी-व्याकरण की ये जटिलताएँ है जिनके कारण वह अहिन्दी प्रदेशों-बंगाल, असाम, उड़ीसा तथा द्राविड़ भाषाओं के क्षेत्रों में पूर्ण रूप से व्यापक नहीं हो सकती। इनमें लिंगभेद और कर्मवाच्य के प्रयोग सबसे अधिक क्लिष्ट हैं। अहिन्दी भाषा-भाषियों के लिये इनमें कुछ सरलता अवश्य की जानी चाहिये। न केवल अहिन्दी प्रदेशों में वरन् हिन्दी के पूर्वी क्षेत्रों में भी लिंग-भेद और कर्मवाच्य के प्रयोग में कठि-नाई का अनुभव किया जाता है क्योंकि इन भाषाओं में ऐसा कोई भेद नहीं पाया जाता। यथा—हम पुस्तक से पढ़ा, हम हाथी को देखा, उसका पुस्तक लो, उसका हाथ से लो, हम लोग जाता है, तुम लोग खाता था आदि प्रयोग अहिन्दी भाषा-भाषियों के मुख से अधिक और हिन्दी के पूर्वी क्षेत्र में कुछ कम सुने जाते हैं।

इन संबन्ध में केवल इतना कहना युक्तिसंगत जान पड़ता है कि साधारण बोलचाल में लिंग-भेद अथवा कर्मवाच्य के प्रयोग में कुछ शिथिलता भले ही कर दी जाय किन्तु यदि ये रूप हिन्दी-भाषा के अंग बन कर साहित्यिक ग्रंथों तथा लिखित रूपों में भी व्यवहृत होने लगेंगे तो हिन्दी भाषा सुगठित नहीं रह जायेगी। साथ ही भापा में व्या-करणिक रूपों का विकास परंपरागत होता है, और उसे अस्वाभाविक ढंग से हटा देना भी वांछनीय नहीं है।

यदि हम विचारपूर्वक देखें तो पता चलेगा कि लिखित और बोलचाल की हिन्दी में भी अन्तर पाया जाता है। राष्ट्रभाषा

हिन्दी को अधिक व्यापक बनाने के लिये इनका निराकरण आवश्यक है। दोनों में अन्तर का स्वरूप कुछ इस प्रकार है—

१. लिखित हिन्दी अपेक्षाकृत संस्कृत शब्दावली से युक्त है, जबकि बोलचाल की भाषा में हम विदेशी संस्कृति के द्योतक अरबी, फ़ारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के प्रचलित शब्दों का भी व्यवहार करते हैं। प्रादेशिक विभाषाओं एवं बोलियों का भी यत्र-तत्र प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। जैसे हिं० करा ∠ किया।

२. हिन्दी ह्रस्व 'अ' ध्वनि का उच्चारण शब्दों के मध्य एवं अन्त भाग में कहीं कहीं नहीं होता है पर देवनागरी में उसके लिखने की परम्परा का निर्वाह पूर्णरूप से होता है। यथा-चल्ता ∠ चलता, राम् ∠ राम।

३. ह्रस्व 'अ' ध्वनि से संयुक्त होकर यदि 'ह' ध्वनि किसी शब्द में आती है, तो उच्चारण-ऐ रूप में होता है परन्तु लिखने में वह रूप ही सुरक्षित है। तथा—शहर 7 शैहर, कहना 7 कैहना, पहले 7 पैहले।

४. 'ऋ' वर्ण भी प्रयुक्त होता चला आ रहा है परन्तु उच्चारण हिन्दी की उत्पत्ति-समय के पूर्व ही समाप्त हो चुका था, इस ध्वनि का उच्चारण हम 'रि' रूप में करते हैं। तथाः—रिसि ∠ ऋषि, रिण ∠ ऋण।

५. ऐ और औ संयुक्त स्वरों का प्रयोग कतिपय स्थानों पर उच्चारण से भिन्नता रखता है। यथाः— कउवा = कौवा, गइया = गैया।

६. अनुस्वार (ं) एवं अर्ध-अनुस्वार (ँ) दोनों वर्णों की पृथक सत्ता लिपि में स्वीकृत है, फिर भी उच्चारण में अधिकांश स्थानों में जहाँ अर्ध-अनुस्वार का प्रयोग होना चाहिए, वहाँ पूर्ण अनुस्वार का प्रयोग चल रहा है, जो हिन्दी की व्यापकता में भ्रमपूर्ण होने के कारण बाधक है।

अनुस्वार अर्ध-पंचम वर्ण के स्थान पर ही स्वीकृत किया गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से होना तो यह भी नहीं चाहिए क्योंकि एक ध्वनि के लिये एक लिपि-चिह्न का सिद्धान्त ही पूर्ण वैज्ञानिक है, फिर भी यदि वैकलिपक प्रयोग चलता रहे तो फिर अनुस्वार को अर्ध-अनुस्वार (शुद्ध

अनुस्वार जो कि अनुनासिकता सहित स्वर की निरन्तरता का बोधक है) का स्थान नहीं लेना चाहिए परन्तु अ, आ, इ, उ, ऊ के साथ तो अर्ध-अनुस्वार का प्रयोग ठीक चलता है परन्तु शेष स्वरों के साथ ई, ए, ऐ, ओ, औ में पूर्ण अनुस्वार का ही प्रयोग करते देखे जाते है- ईंधन—ईँधन, हैं—हैँ इत्यादि।

७. शब्दान्त में 'य' एवं 'व' अक्षर लिखने की प्रथा है, परन्तु इसका शुद्ध उच्चारण नहीं होता। यथा: माधौ ∠ माधव, जै √ जय।

८. 'ञ्' ध्वनि का उच्चारण भी 'न्' हो गया है फिर भी 'ञ' लिखा जाता है। यथा:—पन्जा-पञ्जा, कन्चन-कञ्चन।

९. 'ष' का लिपि में प्रयोग परम्परागत है फिर भी बोलचाल में दन्त्य 'स' अथवा तालव्य 'श' का उच्चारण ही प्राप्त होता है।

१०. क्ष, त्र, ज्ञ क्रम से क्छ, त्, ग्यं रूप में उच्चरित होते है। यथा-

पक्छ ∠ पक्ष, सतर ∠ सत्र, प्रग्यां ∠ प्रज्ञा।

११. अर्ध रकार लिखने की प्रथा भी कुछ भ्रमपूर्ण है, यथा:

आदर्श—उच्चरित आर्दश।

१२. कुछ संयुक्त ध्वनियां भी हैं, जिनमें इस प्रकार का वैभिन्न मिलता है, यथा : साहित्तिक ∠ साहित्यिक।

हिन्दी का स्वरूप

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दी का जो रूप राष्ट्रभाषा के लिये गृहीत हुआ है, वही रूप उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में नर्मदा की तलहटी तक और पूर्व में भागलपुर से लेकर पश्चिम में अमृत-सर तक साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं, प्रारम्भिक एवं माध्यमिक शिक्षाओं तथा अंग्रेजी के साथ-साथ सरकारी कार्य-व्यवहारों का माध्यम बना हुआ है। इस विस्तृत भू-भाग को भी कुछ विद्वानों ने निम्नांकित चार उपभाषा -खण्डों में विभाजित किया है :-(१) पंजाबी उपभाषा खण्ड, (२) राजस्थानी उपभाषा खण्ड, (३) हिन्दी उपभाषा खण्ड, (४) बिहारी उप-भाषा खण्ड।

ऐतिहासिक परम्परा को ध्यान में रखते हुए अधिकांश विद्वानों ने हिन्दी-क्षेत्र को दो भागों मे विभक्त किया है (१) पश्चिमी हिन्दी (२) पूर्वी हिंदी। राजस्थानी एव पंजाबी उपभाषाओं का वर्ग भाषा-गठन की दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी के अत्यधिक निकट है, जबकि बिहारी उपभाषाओ को पूर्वी हिन्दी का नैकट्य प्राप्त है। यह विभाजन-रेखा उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ से कुछ पश्चिम हटकर उत्तर-दक्षिण खीची जा सकती है। पश्चिमी हिन्दी का विकास शौरसेनी तथा पूर्वी हिन्दी का संबंध मागधी (अर्ध-मागधी) प्राकृत से जोड़ा गया है। प्रथम के अन्तर्गत खड़ी बोली, बॉगरू (हरियानी या जाटू), व्रजभाषा, बुन्देली और कन्नोजी प्रधान बोली-रूप है और द्वितीय में मुख्य रूप से अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी बोलियों की गणना की जाती है।

साहित्यिक परम्परा का जो गौरव पश्चिमी हिन्दी के बोली-रूपों को मिला है, वह उसकी पैतृक सम्पत्ति है, उसकी चर्चा यहा न करके हम हिन्दी के दोनो रूपों-पूर्वी एव पश्चिमी की ध्वनि, पद एवं वाक्य-रचना सम्बन्धी कतिपय विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट कर सकते है।

१. पश्चिमी हिन्दी की ह्रस्व 'अ' ध्वनि विवृत मध्य स्वर के रूप में है। परन्तु इसकी बोली बांगरूपर पंजाबी-प्रभाव पूर्णरूपेण स्पष्ट है और कहा जा सकता है कि पश्चिमी प्रदेश की ह्रस्व 'अ' ध्वनि अर्ध-विवृतपन लिए हुए अग्रस्वर है जब कि पूर्व हिन्दी के पूर्वी भाग में बोली जानेवाली उक्त ध्वनि पश्च स्वर के रूप में है। यही ध्वनि विहारप्रदेश के पूर्वी भाग में अर्धविवृत हो जाती है और पश्च स्वर के रूप में सुनाई पड़ती है।

२. भिन्न स्वरों की विशेषकर अ+इ, अ+उ की समीपस्थ स्थिति पूर्वी-हिन्दी की बोलियों तथा बिहारी बोलियों मे पूर्णतः सम्भव है परन्तु पश्चिमी हिन्दी की प्रवृत्ति सस्कृत की भाति इन स्वरों में सन्धि की ओर विशेषोन्मुख है। यया-पूर्वी हिन्दी-करइ, भएउ, रहेउ आदि। पश्चिमी हिन्दी-करे या करै, भयो, रह्यो आदि।

३—पश्चिमी हिन्दी की उच्चारण-प्रवृत्ति 'य' अपश्रुति को अपनाने

की ओर है, जबकि पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ 'व' के उच्चारण में अधिक सुविधा का अनुभव करती हैं। इस प्रवृत्ति के स्पष्ट उदाहरण भूतकालिक क्रिया-रूपों के प्रयोग में मिलते हैं। यथा:—

अवधी-गवा, भवा, खड़ीबोली-गया, हुआ, ब्रजभाषा - गयौ, भयौ।

४—संज्ञा तथा विशेषण प्रतिपादित शब्दों के प्रयोग में पूर्वी हिन्दी का झुकाव ह्रस्व (short) रूपों की ओर है जबकि पश्चिमी हिन्दी की बोलियां दीर्घ शब्द (long) अपना रही हैं। पूर्वी हिन्दी तथा विहारी बोलियां एक अन्य दीर्घ रूप अपनाती हैं जिन्हें हम पश्चिमी हिन्दी की तुलना में 'अति-दीर्घ' रूप कह सकते हैं। संज्ञा शब्दों में इस रूप की रचना के लिए-वा अथवा - या ध्वनि-समूह जुड़ता है, और विशेषण रूपों के लिए-क अथवा-का का योग होता है। यथा:—

पश्चिमी हिन्दी-घोड़ा, नारी, बड़ा, मोटा।

पूर्वी हिन्दी—(क्रम से) घोड़, नारि, बड़, मोट (म्वाट)।

अथवा घोड़वा, नरिया बड़का, मोटका।

विशेषण रूपों में कछुक, थोरक, बहुतक में 'क' का योग निरर्थक (pleonastic) कहा जायगा। फलतः इसे हम दीर्घ-रूप ही कहेंगे।

५ अ—परसर्गों के प्रयोग में सबसे महत्वपूर्ण अन्तर कर्ता-कारक में-ने के प्रयोग का है। पूर्वी हिन्दी तथा विहारी बोलियों में इसका सर्वथा अभाव है, जबकि पश्चिमी बोलियां अनिवार्य रूप से इसका प्रयोग यथास्थान करती हैं। यथा—पश्चिमी हिन्दी—हमने खाया था, पूर्वी—हिन्दी—हम खायेउ रहेइ।

ब—पूर्वी हिन्दी में परसर्ग-रूपों पर सम्भवतः बलाघात नहीं पड़ता है, अतएव यत्र-तत्र निकटस्थ पूर्व-भाग में स्थित संज्ञा अथवा सर्वनाम रूपों के साथ वह जुड़ते जा रहे हैं। योग की इस प्रकार की प्रवृत्ति को भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण के अन्तर्गत भाषा की 'संयोगात्मक स्थिति' कहा गया है। अतएव पश्चिमी हिन्दी की प्रवृत्ति ठीक इसके विपरीत वियोगात्मकता की ओर कही जायगी। यथा —

१—हस्तिक भारक गदहा लेई ? (पूर्वी हिन्दी)

हाथी का भार क्या गदहा लेगा ? (पश्चिमी हिन्दी)

२—अंकम गहेउं—(पूर्वी हिन्दी)

अंक (गोद) में ग्रहण करूँ—(पश्चिमी हिन्दी)

३—अवधी के जेहिक, तेहिक, ओहिक आदि प्रयोग ऐसे ही है। खड़ी बोली हिन्दी-जिसका, उसका आदि (खड़ी०) तथा ब्रजभाषा मे जाकौ, ताकौ, वाकौ मिलता है।

मैथिली में यह प्रवृत्ति और भी अधिक स्पष्ट है। यथा:—

ओहि ग्राम क बनिक (उस गांव का बनिया)।

६—क्रिया की रूप-रचना में पूर्वी हिन्दी के भविष्यकालिक रूप-ब लगाकर बनाये जाते है। पश्चिमी हिन्दी में इस प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव मिलता है। यथा:—पू० हि० जाब, खाब; पश्चिमी हिन्दी (खड़ी०) जाऊँगा, खाऊँगा; (ब्रज) जाउँगौ, खाऊँगौ।

७—पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी का सबसे महत्वपूर्ण अन्तर वाक्य-रचना से सम्बन्धित है। इसी विशेषता को आधार बताकर डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने भारतीय आर्य भाषाओं को दो भागों में विभाजित किया है। उक्त विभाजन का आधार लेकर हम कह सकते हैं कि पश्चिमी हिन्दी कर्म-प्रयोग प्रधान भाषाओं के साथ आती है और पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ कर्तृ प्रयोग प्रधान भाषाओं के साथ। इस विशेषता को इन शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि पूर्वी हिन्दी में भूतकालिक सकर्मक क्रिया कर्ता के पुरुष और वचन के अनुकूल संस्कृत की तिङन्त् क्रियाओं की भाँति परिवर्तित होती चलती है जबकि पश्चिमी हिन्दी को बोलियों में कथित क्रिया-रूप पर वाक्य के कर्म (पुरुषवाचक सर्वनाम रूपों को छोड़कर जो कि वस्तुतः कर्म नहीं सम्प्रदान है) के लिंग तथा वचन का प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये अवधी कवियों की कुछ पंक्तियाँ और उनका पश्चिमी हिन्दी में अनुवाद दिया जा रहा है:-

अ—दीन्हा नैन पन्थ पहिचानौ

दीन्हा रसना ताहि बखानौं
कीन्हा राति मिलै सुख जासौ
कीन्हा दिन कारज है जासों

इनके पश्चिमी हिन्दी-रूप क्रम से इस प्रकार होंगे—

दीन्हें नैन पन्थ पहिचानौ
दीन्ही रसना ताहि बखानौं
कीन्ही राति मिलै सुख जासौ
कीन्हा दिन कारज है जासौ (अपरिवर्तित)

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि पूर्वी हिन्दी की क्रियायें कर्ता 'सिरजनहार' के पुरुष, वचन से ही बाधित है जबकि पश्चिमी हिन्दी के क्रिया-रूपों पर कर्म के लिंग, वचन का पूर्ण प्रभाव है। आधुनिक अवधी में भी—'हम फूल चढ़ावा' वाक्य बोलचाल में है जबकि राष्ट्रभाषा हिन्दी का रूप—'मैने फूल चढ़ाए' होगा। पश्चिमी हिन्दी के अत्यधिक प्रभाव के कारण पूर्वी हिन्दी की प्रतिनिधि बोली 'अवधी' के बैसवाड़ी-क्षेत्र पर यत्र-तत्र कर्म-प्रयोग के लक्षण दृष्टिगोचर हो जाते है।

(ख) कर्ता के पुरुष के अनुसार परिवर्तित होने के उदाहरण इस प्रकार है:—

पूर्वी हिन्दी (अवधी)	उ० पु० एक वचन-मै मारेउ
	म० पु० एक वचन-तै मारिस
	प्र० पु० एक वचन-ऊ मारिस

पश्चिमी हिन्दी (खड़ी बोली) क्रमशः मैंने मारा, तूने मारा, उसने मारा।

प्रथम यहाँ पश्चिमी हिन्दी की विभिन्न बोलियों की सामान्य विशेषताओं को स्पष्ट किया जा रहा है। इस भाषा-समूह की आधुनिक प्रतिनिधि बोली 'खड़ी बोली' है जिसका आधार लेकर हमारी राष्ट्र-भाषा का विकास हुआ है। राष्ट्रभाषा अथवा कोई भी भाषा सारग्राहिणी प्रवृत्ति रखती है। उसका क्षेत्रीय विकास होता जाता है, और वह अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल कतिपय क्षेत्रीय विशेषताओं को भी आत्मसात् करती

जाती है। ऐसी ही स्थिति आज की राष्ट्रभाषा हिन्दी की है। स्पष्ट रूप से हम उसको इन भागों मे विभाजित करके देख सकते है—

१. राष्ट्रभाषा हिन्दी का क्षेत्रीय रूप जिसे हम 'खड़ी-बोली' कहते चले आ रहे है और जिसका क्षेत्र-विस्तार गंगा का उत्तरी दोआब तथा पश्चिमी रुहेलखंड है।

२. बोलचाल की हिन्दी जो कि दिल्ली से लेकर विहार तक सामान्य शिक्षित जनता द्वारा पारस्परिक विचार-विनिमय का माध्यम है। राष्ट्र-भाषा हिन्दी का यही वास्तविक स्वरूप है, इसमें न तो संस्कृत शब्दावली की बहुलता है और न अरबी, फ़ारसी शब्दों की भरमार। इसकी उपयोगिता दैनिक व्यवहार में है, और हिन्दोस्तानी (हिन्दी, उर्दू) के वास्तविक उद्देश्य के अधिक निकट है। यही रूप जातीयता के चक्कर में पडकर प्रेमचन्द्र जी के पात्रों की भांति दो विभिन्न आकार धारण कर लेता है:—

क. आलिम-आलाओं के मुख से निकलकर अरबी-फ़ारसी के शब्दों से युक्त होकर 'उर्दू' रूप।

ख. हिन्दू-संस्कृति के पोषक कहे जाने वाले पंडित जनों के द्वारा व्य-वहृत संस्कृत-शब्दावली से जकड़ी 'साहित्यिक हिन्दी'।

इस प्रकार के साहित्यिक रूप हिन्दू एवं मुसलमानों द्वारा गृहीत होने के कारण क्रम से हिन्दी और उर्दू के रूप में रूढ़ि हो गए है। परन्तु हम यह पारिवारिक वर्गीकरण के अन्तर्गत बता चुके हैं कि किसी अन्य भाषा से संज्ञा तथा विशेषण शब्दों के उधार लेने पर कोई भाषा समूल दूसरी नहीं कहला सकती। भाषा की सर्वस्व तो उसके वे क्रिया, सर्वनाम आदि शब्द हैं, जो कि स्वभावतः दैनिक प्रयोग में होने के कारण हमारे मस्तिष्क में पैठ जाते हैं और यह शब्दावली हम तथाकथित 'हिन्दी और उर्दू' दोनों रूपों में सर्वथा समान पाते हैं। फलतः कुछ आलोचकों का यह कहना तर्कसंगत है कि उर्दू को भिन्न नामकरण देकर कटुता क्यों बढ़ाई जाय, अपितु उसे 'मुसलमानी हिन्दी' के नाम से ही अभि-हित किया जाय।

अब रह गया बोलचाल और साहित्यिक रूपों का अन्तर। यह अन्तर तो संसार की सभी भाषाओं में न्यूनाधिक मात्राओं में मिलता ही है। सभी विषय जनसाधारण के लिए नहीं होते। गुरुतर विषयों के लिए अध्येतावर्ग पूर्व-प्रतिष्ठित भाषाओं से या अन्य स्रोतों से शब्दावली ग्रहण करता है और इस कारण भाषा में कुछ अन्तर पड़ जाना स्वाभाविक ही है।

३. हिन्दी के एक और रूप का अनुमान लगाया जा सकता है और इसे हम डा० चटर्जी के अनुसार चलतू-हिन्दी कह सकते हैं। भिन्न भिन्न प्रदेशवासी राष्ट्र-भाषा हिन्दी को अपनी उच्चारण एवं व्याकरण की भिन्न प्रवृत्ति के अनुसार ग्रहण करते हैं।

अब यहाँ पर हिन्दी की विविध उपभाषाओं का विवरण दिया जा रहा है—

राजस्थानी-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

उत्तर भारत के वर्तमान राजस्थान-प्रदेश की यह भाषा है। इसके उत्तर में पंजाबी, दक्षिण में मराठी और पूर्व में व्रज-भाषा की सीमाएं हैं। भाषा के लिये 'राजस्थानी' शब्द का प्रयोग समूहवाची शब्द के रूप में हुआ है। इसके अन्तर्गत राजस्थान की कतिपय बोलियों की गणना की जाती है। सर्वप्रथम डा० ग्रियर्सन ने राजस्थानी बोलियों की रूप-रेखा प्रस्तुत की। पुरानी राजस्थानी का विधिवत् परिचय डा० एल्० पी० तेस्सितोरी ने दिया। तदनन्तर डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने राजस्थानी का ऐतिहासिक तथा भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण से उत्कृष्ट विवेचन प्रस्तुत किया। तेस्सितोरी ने यह स्पष्ट किया कि पश्चिमी राजस्थानी और गुजराती एक मूल स्रोत से विकसित हुई। पुरानी राजस्थानी का साहित्य भी काफी संपन्न है। इसमें प्राचीन गद्य और पद्य दोनों मिलता है, यह इसकी मुख्य विशेषता है। शौरसेनी अपभ्रंश से उद्भूत पिंगल तथा व्रजभाषा का प्रभाव अर्वाचीन राजस्थानी पर यथेष्ट-रूप में पड़ा। पिंगल के अनुकरण पर ही राजस्थानी-काव्य

की विशेष भाषा 'डिंगल' का आविर्भाव हो गया जिसका साहित्य १५वीं शताब्दी से उपलब्ध होता है।

हिन्दी भाषा का निरन्तर प्रभाव पड़ने के कारण राजस्थानी और हिन्दी में काफी घनिष्ट संबन्ध हो गया। आधुनिक राजस्थानी में साहित्य-सर्जन अपेक्षाकृत कम हुआ है। राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जागृति के साथ राजस्थान के लोगों का ध्यान अब अपनी भाषा की उन्नति की ओर गया है। आधुनिक राजकीय संगठन के परिणामस्वरूप पुराने राजपूताना को एक नये प्रदेश 'राजस्थान' के नाम से अभिहित किया गया है। किन्तु इससे राजस्थानी और हिन्दी के संबन्ध में कोई अन्तर नहीं पड़ना चाहिए। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी राजस्थानी को हिन्दी के अन्तर्गत ही रखना अधिक समीचीन समझते है, उन्होंने दोनों भाषाओं की ध्वनि, व्याकरण, साहित्य, सांप्रतिक इतिहास आदि के विशद तुलनात्मक विवेचन के बाद यही कामना की है—'राजस्थानी बढ़ती रहे पर हिन्दी से इसका छुटकारा कभी न हो।' राजस्थानी के भाषा-समूह के दो प्रमुख भेद हैं:—

१. पश्चिमी राजस्थानी जिसके अन्तर्गत जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, जैसलमेर आदि की 'मारवाड़ी' मुख्य बोली है।

२. पूर्वी राजस्थानी के अन्तर्गत जयपुर, अजमेर, रेवाड़ी, किशनगढ़, कोटा, बूदी आदि बोलियों की गणना की गई है।

डा० ग्रियर्सन ने अहीरवाटी, मेवाती, मालवी, निमाड़ी आदि बोलियों के कुछ अन्य भेद दिये हैं किन्तु डा० तेस्सितोरी और डा० चटर्जी ने उन्हें स्वीकार नहीं किया है। उक्त बोलियाँ पश्चिमी हिन्दी से अधिक संबंधित जान पड़ती हैं।

राजस्थानी की कतिपय विशेषतायें ये हैं:—

क. ध्वनि संबन्धी —

१. प्रायः शब्द के आदि में अ7 इ तथा शब्द के मध्य-इ,-अ के

रूप मिलते हैं। यथा-सरदार7 सिरदार, हरिण7 हिरण, पंडित7 पिंडत, दिन7 दन, मानुष7 माणस, मिलाप7 मलाप आदि।

२. ण तथा ळ ध्वनियों की विशेष प्रयोग होता है। यथा-काळ, फळ, थळ आदि।

३. शब्द के आरंभ तथा मध्य में घोष महाप्राण व्यंजन, ध, झ, ढ, ध, भ, का उच्चारण क्लिक (click) ध्वनि के रूप में होता है। यथा घोड़ा7 ग'ोड़ो', बाघ7 बाग, लाभ7 लाब आदि।

ख. व्याकरण संबन्धी—

१, पश्चिमी हिन्दी के सदृश संज्ञा पुंलिग कर्ता कारक एक वचन का रूप समान होता है। यथा-घोड़ों।

२. पश्चिमी राजस्थानी के संबन्धकारक में—रा,-री,-रो प्रत्यय लगते हैं। यथा-उणरो-उसका, उणरी-उसकी।

३. संज्ञा आदि के विकारी रूप बहुवचन में-आं विभक्ति लगती है। यथा-सीहां, तोपां आदि।

४. उत्तम पुरुष तथा मध्यम पुरुष के सर्वनामों के संबन्ध कारक एक वचन में म्हारो, थारो रूप होते हैं।

५. संज्ञा, सर्वनाम आदि में विभक्ति-चिह्न तथा कारक-चिह्न दोनों का प्रयोग होता है।

६. सहायक क्रिया - 'है' के लिये-'आछ' धातु रूप का सीमित प्रयोग जयपुरी में होता है। यथा-छूं, छां, छ्य आदि में 'छ' रूप का व्यापक प्रयोग हुआ है।

७. भविष्यकाल के रूप-सी-स्यू आदि विभक्तियों तथा-ला, ली आदि प्रत्ययों के योग से बनाये जाते हैं। यथा रहसीं, रहस्यूं, बूड़ेला-डूबेगा।

खड़ी-बोली-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है खड़ी बोली रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फर नगर, सहारनपुर, देहरादून आदि उत्तर-प्रदेश के पश्चिमी जिलों में बोली जाती है। इस क्षेत्र के पश्चिम में पंजाबी

एवं बांगरू, उत्तर में पहाड़ी बोलियां तथा दक्षिण-पूर्व में व्रज-भाषा का क्षेत्र है। इस बोली की जन-शक्ति ५३ लाख से अधिक ही है।

इसकी कुछ ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ ये हैं—

क. ऐ, औ, ध्वनियों का सर्वथा अभाव है। हिन्दी की तुलना में इनके स्थान पर क्रम से 'ए' और 'ओ' मिलती हैं। यथा—

ओर<और, हे∠है।

ख. अधिकांश स्थानों पर जहां हिंदी में 'न' मिलता है, वहाँ 'ण' ध्वनि का प्रयोग होता है।

ग, मूर्धन्य ध्वनि 'ळ' का प्रयोग राजस्थानी और पंजाबी की ही भाँति किया जाता है। किन्तु खड़ी बोली के पूर्व में इस ध्वनि का सर्वथा अभाव मिलता है।

घ. व्यंजनों के द्वित्व रूप अर्थात् दीर्घव्यंजनों से युक्त शब्दावली का प्रयोग होता है। यथा—रन्नी, पुच्छा आदि।

इन दीर्घ व्यंजनों के पूर्व-भाग में स्थित स्वर ('आ' को छोड़कर) ह्रस्व ही मिलता है। यथा—बेट्टी, लोट्टा (यहाँ ए और ओ दोनों ध्वनियां उच्चारण में ह्रस्व ही है)।

६. व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओं में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं:—

क. संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, कृदन्त आदि रूपों में व्रज तथा बुन्देली के अन्त्य-औ, ओ की अपेक्षा शब्दान्त में-आ ध्वनि का प्रयोग हुआ है। यथा—भलौ, भलो 7 भला, मेरौ, मेरो7मेरा, गयो, गऔ 7 गया आदि।

ख. संज्ञा के विकारी रूप बहुवचन में—ओं के स्थान पर इस बोली में-आं मिलता है। यथाः—लड़कों 7 लड़कां, घरों 7 घरां।

ग. कर्तृ वाच्य में वर्तमान काल का रूप सहायक क्रिया के साथ वर्तमान कृदन्त की अपेक्षा सामान्य वर्तमान जोड़कर प्रयुक्त किया जाता है। यथाः (मेरठ के आस-पास के प्रदेश में)—

खाता हूँ 7 खाऊँ हूँ, मारता हूँ7मारूँ हूँ।

इसी प्रकार अपूर्ण भूत के लिए सहायक क्रिया के साथ अन्त्य —ए कृदन्त का प्रयोग होता है। यथा:—वह पढ़े था, मैं मारे था।

हिन्दी की अन्य बोलियों की अपेक्षा इसमें अरबी, फ़ारसी शब्दों का प्रयोग अधिकता से हुआ है।

बांगरू-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

स्थान और बोलने वालों की जाति के अनरूप यह बोली कई नामों से व्यवहृत होती है। हरियाना के आसपास इसको 'हरियानी' अथवा 'देसाड़ी', रोहतक और दिल्ली में जाटों के नाम पर 'जाटू' एवं अन्य स्थानों में 'बांगरू' (बांगर-प्रदेश से सम्बन्धित) नाम से प्रचलित है। परन्तु इन सभी बोली-विभेदों में प्राय: समानता मिलती है। इसका क्षेत्र-विस्तार दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार तथा पटियाला और झीदं स्थानों तक पाया जाता है। पश्चिम में पंजाबी, दक्षिण में मारवाड़ी, दक्षिण-पूर्व में व्रज और उत्तर-पूर्व में खड़ी बोली का प्रभाव दिखाई देता देता है। इसके बोलने वालों की संख्या २२ लाख से ऊपर है।

क. ध्वनिसम्बन्धी विशेषताओं में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं:—

१. मूर्धन्य 'ण' का प्रयोग बहुलता से मिलता है, हिन्दी में इस स्थान पर 'न' का ही प्रयोग हुआ है—अपणा 7 अप्ना, होणा 7 होना।

२. मूर्धन्य ळ भी बहुप्रयुक्त ध्वनि है। यथा-काळ ∠काल (ठीक राजस्थानी बोलियों की ही भाँति)।

३. 'ड़' ध्वनि का प्रयोग नहीं मिलता। इसके स्थान पर 'ड' का प्रयोग प्रचलित है। यथा—बडा ∠ बड़ा।

४. शब्द में द्वित्व व्यंजनों का प्रयोग खड़ी बोली की भाँति बहुतायत से हुआ है तथा इनके पूर्व के स्वर 'आ' को छोड़कर सभी ह्रस्व, रूप में मिलते हैं। यथा—मुक्का ∠ मूका, भित्तर∠भीतर, परन्तु चालनणा चाल्ल्या, घाल्लणा, घाल्ल्या।

ख. व्याकरण-सम्बन्धी विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार दी जा सकती हैं—

१. खड़ी बोली से कही अधिक मात्रा में तिर्यक बहुवचन के रूप -ओं में अन्त न होकर—आं में अन्त होते हैं। यथा—

घोड़ां ∠ घोड़ों, दिनां ∠ दिनों, छोरयां ∠ छोरियों।

२. परसगों का प्रयोग भी हिन्दी की अन्याय बोलियों से बहुत कुछ भिन्नता रखता है। यथा—

ने (हिन्दी ने) कर्ता कारक परसर्ग का प्रयोग इस बोली में पंजाबी की ही भांति कर्म, सम्प्रदान के लिए भी प्रयुक्त होता है:—

परदेस नै (हिन्दी)—परदेस को।

'ती', 'तै' परसर्ग अपादान में, 'का', 'कै' सम्बन्ध में अधिक प्रयुक्त होते हैं।

३. सर्वनाम-रूप भी कहीं पंजाबी और कहीं राजस्थानी से मेल खाते हैं। यथा—मन्नै = मुझको, तन्नै = तुझको (हिन्दी)

निश्चय ही 'नै' पर बलाघात का प्रभाव है जिसके कारण 'मैं' का केवल 'म' रूप शेष रह गया है। हिन्दी की अन्य बोलियों में यत्रतत्र 'मही' = 'मैं ही' के लिये मिलता है।

तूं, थूं, त्हारो, थारो आदि रूपों में 'थ' ध्वनि की ओर झुकाव राजस्थानी के समान है। कतिपय शब्दों भी ब्होत आदि रूपों का झुकाव 'भ' महाप्राण की ओर पूर्ण स्पष्ट है। कुछ ऐसा जान पड़ता है कि महाप्राण की वहां दो कोटियां हैं और इस प्रकार स्पर्श व्यंजनों के हम तीन भाग कर सकते हैं, जैसे:—त्, त्ह, थ आदि।

४. सहायक क्रियाओं के प्रयोग में वर्तमान काल का क्रिया-रूप उल्लेखनीय है जो कि पंजाबी की ही भाँति है, यथा—सैं, सूं आदि, हिन्दी—है, हूँ आदि।

५. वर्तमानकालिक कृदन्त रूपों की रचना पंजाबी की भांति—दा लगाकर होती है। यथा—'जांदा', हिन्दी 'जाता' आदि।

६. भूतकालिक कृदन्त रूपों में अन्त-या का प्रयोग उल्लेखनीय है:—चाल्या, हिन्दी चला, खड़ी बोली चाल्ला। बांगरू बोली के अध्ययन

से यह विचार तर्क-संगत जान पड़ता है कि दक्खिनी हिन्दी जो कि बहमनी राज्यों में पनपी, निस्संदेह बांगरू तथा खड़ी बोली के मध्यस्थल-क्षेत्र के सैनिकों द्वारा प्रथम वहां व्यवहृत हुई। इसकी चर्चा खड़ी बोली (हिन्दी) के विकास में पहले की जा चुकी है। दक्खिनी-साहित्य में संज्ञा के तिर्यक-रूप, सर्वनामों के मन्नै, तन्नै रूप तथा भूतकाल के —या वाले रूप बांगरू के समान ही प्रयुक्त हुए हैं।

व्रज-भाषा-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

लिंग्विस्टिक सर्वे में डा० ग्रियर्सन ने व्रज के लिए एक और नाम 'अन्तर्वेदी' दिया है अर्थात् गंगा-यमुना के बीच प्रदेश की भाषा। व्रज केवल व्रजमंडल-प्रदेश की ही (जिसका विस्तार ८४ कोस की परिधि का है) भाषा नहीं है। इसका विस्तार व्यापक क्षेत्र में पाया जाता है। व्रजभाषा का टकसाली रूप मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर में प्रयुक्त होता है। इसका कारण यह है कि प्राचीन 'शूरसेन' जनपद का केन्द्र 'मथुरा' ही था जहां पर शौरसेनी अपभ्रंश प्रचलित थी और-व्रजभाषा इसी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी हुई। बुलन्दशहर, बदाऊँ और नैनीताल की तराई में प्रयुक्त भाषा में खड़ी-बोली का प्रभाव पाया जाता है। एटा, मैनपुरी, बरेली की व्रज-भाषा में कनौजीपन मिलता है। गुड़गांव, भरतपुर तथा ग्वालियर के पश्चिमोत्तर भू-भाग की व्रज में बुन्देली तथा राजस्थानी की झलक मिलती है। प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी डा० धीरेन्द्र वर्मा ने पीलीभीत तथा इटावा की बोली को कन्नौजी की अपेक्षा ब्रज के अधिक निकट माना है।

व्रज-भाषा क्षेत्र के उत्तर में बांगरू तथा खड़ी बोली, पूर्व में कन्नौजी तथा अवधी, दक्षिण में बुंदेली तथा पश्चिम में राजस्थानी का प्रदेश है। ३८ हजार वर्गमील के क्षेत्र में व्रजभाषा के बोलने वालों की संख्या १ करोड़ २२ लाख से ऊपर आंकी गई है। व्रज अपने साहित्यिक महत्व तथा व्यापकता के कारण बोली-रूपसे उठकर भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई जिसकी चर्चा पूर्व पृष्ठों में विस्तार से की जा चुकी है। ब्रजभाषा-साहित्य

का इतिहास १६वी शताब्दी के उत्तरार्ध में उस समय से माना जाता है जब बल्लभ-मत के अष्टछापी भक्त कवियों के कीर्तन आदि की आयोजना गोवर्धन के मन्दिर में की गई। इनमें सूरदास और नन्ददास प्रमुख थे। मीराबाई और तुलसी दास ने भी व्रजभाषा को कुल अंशों में अपने काव्य का माध्यम बनाया। केशव, रसखान, सेनापति, रहीम, विहारी, देव, मतिराम, भूषण, घनानन्द, भिखारीदास, पद्माकर आदि प्रसिद्ध कवियों ने व्रज-भाषा को ही काव्य-भाषा के लिए चुना। व्रजभाषा की लोक-प्रियता इतनी बढ़ी कि लगभग समस्त उत्तर-भारत में यह काव्य-भाषा के रूप में गृहीत हुई। साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त व्रज का लोक-साहित्य भी अपना निज का महत्व रखता है। व्रज-मंडल नामक संस्था व्रज के प्रादेशिक साहित्य के प्रचार, संरक्षण एवं प्रसार में संलग्न है। इन गीतों तथा कहानियों में व्रज की मधुरिमा तथा सरसता कूट-कूट कर भरी है। हिन्दी भाषा के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान डा० धीरेन्द्र वर्मा ने व्रज-भापा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। भाषा-क्षेत्र में उनका यह शोध-कार्य अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

क. ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताओं के सम्बन्ध में व्रजभाषा पश्चिमी हिन्दी का प्रतिनिधित्व करती है। हिन्दी की अन्य बोलियों की ही भाति इसमें भी व 7 ब, य 7 ज, ष 7 ह मिलता है। अनुनासिक व्यंजनों में न, म ध्वनियों का प्रयोग अपने महाप्राण रूपों के साथ उच्चरित होता है, अन्य अनुनासिक व्यंजनो का प्रायः लोप मिलता है।

ख. व्याकरण सम्बन्धी कतिपय विभिन्नताएँ इस प्रकार संग्रहीत की जा सकती हैं—

१. हिन्दी यदि आकारान्त भाषा कही जा सकती है, तो इसकी तुलना में व्रज-भाषा औकारान्त भाषा ठहरती है। इस प्रकार संज्ञा, सर्वनाम, परसर्ग तथा कृदन्त रूपों में जहां हिन्दी में अन्त्य-आ ध्वनि मिलती है, वहां व्रजभाषा में—औ मिलती है। यथा—

गला 7 गरौ, मेरा 7 मेरौ, का 7 कौ, गया 7 गयौ।

२. संज्ञा के तिर्यक बहुवचन रूपों को अन्त-न अथवा—अन लगा कर और मूल बहुवचन रूपों की रचना स्त्री लिंग में-एं अथवा केवल अनुस्वार और पुलिंग में-ए लगाकर की जाती है। यथा:—

लरिकन, गइयन, (तिर्यक बहु०), लट—लटें, घुड़िया—घुड़ियां, कांटौ— कांटें (मूल बहु०)।

३. हिन्दी की तुलना में सर्वनाम-रूप इस प्रकार हैं:—

उत्तम पु० —हौं, मैं हम, मों, मोय, हमें, मेरौ, हमारौ।

मध्यम पु०—तूॅं, तैं, तुम, तो, तोय, तुम्हें, तेरौ, तुम्हारौ।

दूरवर्ती और निकटवर्ती संकेतवाचक सर्वनाम रूपों में यत्र-तत्र पुल्लिंग और स्त्रीलिंग का भी भेद मिलता है:—

बौ (वह) राजा, बा (वह) रानी, जौ (यह) राजा, जा (यह) रानी।

४. परसर्गों का प्रयोग हिन्दी-रूपों के ही समान है। हिन्दी के अन्त्य—ए का—ऐ और अन्त्य-ओ का—औ ध्वनि में परिवर्तन हो जाना अनिवार्य है। यथा:—

हिन्दी-ब्रज क्रमशः कर्ता-कारक ने, नैं; कर्म, सम्प्रदान—को, कौ; करण, अपादान-से सैं, आदि।

५. सहायक क्रियाएँ निम्नप्रकार की भिन्नताएँ रखती हैं—

वर्तमान काल हौं, हैं क्रम से एक वचन और बहुवचन।

भूतकाल हो, ही, हे क्रम से हिन्दी के था, थी, थे के स्थान पर। हुतौ, हुती, हुते क्रम से हिन्दी के था, थी, थे के स्थान पर। परन्तु ये रूप प्राचीन व्रजभाषा-साहित्य में ही मिलते हैं।

६. वर्तमान, भूत एवं भविष्य काल के क्रिया-रूपों की विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

क. वर्तमान काल के रूप—त अथवा-अत लगा कर बनते है, जबकि हिन्दी में दीर्घ-ता जुड़ता है। कृदन्त होने के कारण लिंग और वचन भी क्रिया में मिलता है, पुरुष-भेद नहीं।

यथा—खेलत श्याम अपने रंग।

'रमा खेलति' प्रयोग भी व्याकरणसम्मत है, वहां हिन्दी में 'रमा खेलती' का प्रयोग मिलता है। पुरुष-भेद में अन्तर नहीं पड़ता, यथा:—

हौं खेलत, कान्ह खेलत आदि।

सहायक क्रियाओं का प्रयोग हिन्दी क्रियाओं की भाँति अनिवार्य नहीं है।

ख. भूतकालिक रूप भी हिन्दी की ही भांति कृदन्त हैं, अर्थात् लिंग-वचन-भेद रखते हैं परन्तु पुरुष-भेद नहीं रखते। यथा:—

गयौ—हिन्दी गया— पु० एक०, गये—गए—पु० बहु० गई—गई—स्त्री० एक० गईं—गईं—स्त्री० बहु०।

ठीक इसी प्रकार भयो, भये, भई, भईं, हिन्दी के हुआ, हुए, हुई, हुईं रूपों के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं।

ग. भविष्यत् काल के रूपों की रचना दो प्रकार से है। एक रूप हिन्दी के ही समान-गौ,-गी, गे हिन्दी-गा, -गी, गे- लगाकर बनते हैं। यथा—हौं जाऊंगो, हिन्दी-मैं जाऊंगा आदि। दूसरे प्रकार के रूप क्रिया के अन्त में—ह लगाकर बनते हैं। प्रथम रूप कृदन्त हैं अर्थात् लिंग-वचन-भेद रखते हैं, पुरुष-भेद नहीं। परन्तु इसके रूप तिङन्त् हैं, और वचन-भेद रखते हैं, लिंग-भेद नहीं। यथा—

हौं जैहों, खैहों आदि—मैं जाऊंगा, खाऊंगा। जैहै, खैहै आदि—वह जाएगा, खाएगा।

ऐसा जान पड़ता है कि दूसरे प्रकार के रूप व्रजभाषा के परम्परागत हैं जो कि पूर्व भाषाओं से चले आ रहे हैं। यही कारण है कि व्रजभाषा-साहित्य में इन्हीं रूपों का अधिकता से प्रयोग हुआ है। परन्तु प्रथम प्रकार के रूप हिन्दी के प्रभाव से विकसित हो गए हैं, और इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक बोलचाल की व्रज-भाषा में प्रथम प्रकार के ही रूप अधिकता से प्रयोग में आते हैं।

७. क्रियार्थक संज्ञाएं भी दो प्रकार की रूप-रचना रखती हैं। प्रथम —न लगाकर और दूसरा—ब लगाकर, यथा:—

क. 'चलिनौं' केतिक दूर पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै ।

ख. 'अंखमूंदनौं' संग तुम्हारे न खेलिहैं ।

ग. 'हंसिबौ', 'रमिबौ', 'बोलिबौ' गयौ बीरबल साथ ।

घ. 'खेलिबौ' अच्छौ है ।

व्रज-भाषा की अन्त्य ध्वनि-प्रवृत्ति के अनुकूल-औ ध्वनि मिलती है जबकि हिन्दी में अन्त्य-आ है, यथाः—खेलना अच्छा है आदि ।

—ब वाले रूप हिन्दी में नहीं मिलते व्रजभाषा के पूर्व में स्थित हिन्दी की सभी बोलियों में इसका प्रयोग पर्याप्त मात्रा में है । दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि उक्त उदाहरण मूल रूप के ही हैं । तिर्यक-रूप में क्रम से केवल ह्रस्व-न अथवा-ने ही जुड़ता है । इन रूपों में लिंगवचन-भेद भी नहीं मिलता ।

८. पूर्वकालिक क्रिया रूपों में कोई विशेष अन्तर नहीं मिलता । यथाः—खा कैं, खाय कैं, सुनि कै, हिन्दी-खाकर, सुनकर ।

कन्नौजी-क्षेत्र तथा विशेताएँ

डा० ग्रियर्सन ने इसका विस्तार इटावा, फ़रुखाबाद, शाहजहाँपुर, कानपुर, हरदोई, पीलीभीत ज़िलों में दिया है । फ़रुखाबाद जिसके अन्तर्गत प्राचीन कन्नौज नगर है, इसका केन्द्र माना जाता है । पीली-भीत और इटावा की कन्नौजी पर व्रज तथा हरदोई और कानपुर की कन्नौजी पर अवधी की छाप मिलती है । कन्नौजी के पश्चिमोत्तर में व्रज, दक्षिण मे बुन्देली, पूर्व तथा उत्तरपूर्व में अवधी का क्षेत्र पाया जाता है । इसके बोलने वालों की सख्या ४४ लाख से अधिक है ।

कन्नौजी का क्षेत्र साहित्यिक दृष्टिकोण से कम महत्वपूर्ण नहीं रहा है । हिन्दी के चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, अकबरी दरबार के प्रसिद्ध नवरत्नों में से बीरबल जिन्होंने 'ब्रह्म' उपनाम से रचना की है, कानपुर जिले में, तिकवांपुर के निवासी थे । परन्तु इस क्षेत्र के सभी कवियों ने व्रज में ही अपनी रचनाएं लिखी हैं ।

व्याकरणिक दृष्टि से कन्नौजी व्रजभाषा से बहुत अधिक भिन्नता

नहीं रखती। क्षेत्रीय अन्तर होने के कारण तथा समीपवर्ती भाषाओं के प्रभाव के कारण थोड़ा बहुत अन्तर आ जाता है। प्राचीन गौरव जो पांचाल और कनउज प्रदेश को मिला है, उसी को ध्यान में रखकर इस बोली-विभेद को भिन्न नाम दे दिया है। डा० धीरेन्द्र वर्मा इसे पूर्वी-व्रज की संज्ञा देना अधिक समीचीन समझते हैं। उनके इस कथन में व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रधान है क्योंकि बोलियों के भेद-प्रभेद किए जा सकते हैं। केवल ग्रामगत ही नहीं जातिगत अन्तर भी स्पष्ट किया जा सकता है। फिर भी इस प्रकार का अन्तर करके अध्ययन अधिक गहरा हो सकता है परन्तु जब व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाना है तब डा० वर्मा की उक्ति ही मान्य होगी।

कन्नौजी की यत्किंचित विशेषताओं को नीचे दिया जा रहा है:—

१. हिन्दी में 'र' को स्पर्श व्यंजनों से योग होने पर दोनों व्यंजनों का समीकृत रूप हो जाता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हमें प्राकृत-काल की भाषाओं में मिलता है। यथा:—

मिर्च 7 मिच्च, उर्द 7 उद्द, हल्दी 7 हद्दी।

२. हिन्दी आकारान्त भाषा की तुलना में जहां व्रजभाषा औकारान्त कही गई है, वहां कन्नौजी ओकारान्त भाषा कही जा सकतीं है। इसके उदाहरण के लिए हमें हिन्दी आकारान्त संज्ञा, सर्वनाम, परसर्ग, कृदन्त आदि रूपों को लेना चाहिए, यथा:—

हिन्दी, व्रज, कन्नौजी—(क्रमशः) छोटा, छोटौ, छोटो, बड़ा, बड़ौ, बड़ो; दिया, दियौ, दओ; लिया, लियौ, लओ।

बुंदेली में भी इसी प्रकार की रूप-रचना मिलती है।

३. बहुवचन शब्द-प्रत्यय-हर या-ह्वार है जो कि संज्ञा तथा सर्वनाम रूपों के बाद में जुड़ते हैं, भोजपुरी में जिस प्रकार सभ, लोग आदि जुड़ते हैं ठीक उसी प्रकार उसका प्रयोग होता है। यथा —

हम हर या हम ह्वार (हिन्दी-हम लोग)।

४. सहायक क्रियाओं के रूप इस प्रकार हैं:—

क. वर्तमानकालिक रूपों में-ग ध्वनि का योग होता है। यथा—

हैगो (है), हैंगे (हैं)।

इस प्रकार तिङन्त और कृदन्त का योग होता है।

ख. भूतकालिक रूप कृदन्त ही हैं परन्तु स्थान गत अन्तर मिलता है। यथा:—थों, थे, थी, हिन्दी था, थे, थी; हतो, हते, हती; रहों, रहे, रही।

ये रूप क्रम से कन्नोजी-प्रदेश के पश्चिम, मध्य और पूर्व के भागों में मिलते हैं।

ग. भविष्यत् काल के रूपों में भी -गो, -गी, -गे रूप जुड़ते हैं। परन्तु ठीक व्रज-भाषा की ही भांति भविष्यत् काल की रचना दोनों प्रकार से होती है :— क.—ह लगाकर , ख.—ग लगाकर

५. अतीत काल अन्य पुरुष की क्रिया के एक विचित्र प्रयोग की चर्चा भी की जाती है, यथा—लरिका ने चलो गओ (लड़का गया-लड़के के द्वारा जाया गया)। आदर्श हिन्दी में इस प्रकार का प्रयोग चिन्त्य माना जाता है। निम्नांकित उदाहरणों में 'कहना तथा पूछना' क्रियाएं अतीत काल स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुई हैं। इन का अन्वय वस्तुतः कर्म कारक 'बात 'से हुआ जो यहां लुप्त है। यथा—उसने कही (उसने बात कही), उसने पूछी (उसने बात पूछी)।

बुन्देली-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

बुन्देली बुन्देलखंड की प्रधान जाति बुन्देलों की वोली मानी जाती है, जिसका विस्तार जालौन, हमीरपुर, झांसी, बांदा, ग्वालियर, ओरछा, सागर, दमोह, नृहसिंहपुर, सिउनी तथा जबलपुर, हुशंगाबाद तक फैला हुआ है। छत्रसाल के राज्य की सीमा जिस दोहे से स्पष्ट की जाती है, वह दोहा भी बुन्देली की सीमा के रूप में साधारणतः गृहीत है। यह इस प्रकार है:—

इत जमुना उत नर्मदा, इत चंबल उत टौंस।
छत्रसाल सौं लरनि की रही न काहू हौंस॥

परन्तु यह कथन तात्कालिक राजनीतिक एकता की दृष्टि से जितना

सत्य है उतना भाषा की व्याकरणिक गठन की दृष्टि से नहीं। सीमावर्ती प्रदेशों में स्वभावतः व्रज, अवधी, राजस्थानी भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। बांदा ज़िला की भाषा में बुन्देली, बघेली और बैसवाड़ी (अवधी) का सम्मिश्रण है। इसका क्षेत्र-विस्तार लगभग ४० हज़ार वर्गमील है जिसमें सवा करोड़ से अधिक व्यक्ति इस भाषा का प्रयोग कर रहे हैं। इस बोली के भी कई एक विभेद किए जा सकते हैं क्योंकि इस विस्तृत क्षेत्र को एक सूत्र में बांधने वाली सामाजिक एकता का अभाव है। यातायात के साधन अत्यल्प हैं। स्थानीय विशेषताओं को ध्यान में रख कर ग्रियर्सन ने बुन्देली के पंवारी, खटोला, राठोरी तथा लुधांती आदि कई उपभेद किए है।

ठेठ बुदेली की कोई साहित्यिक बहुमूल्य रचना उपलब्ध नही होती। एनसाई, ईसुरी, धर्मदास, गंगाधर की रचनाएं बुँदेली में ही हैं। तुलसी, केशवदास, पद्माकर, ठाकुर, गोरेलाल आदि कवियों ने काव्य के लिए व्रज-भाषा को ही अपनाया है। परन्तु इन कवियों की रचनाओं पर यथेष्ट बुंदेली-प्रभाव मिलता है। जगनिक की प्रसिद्ध रचना 'आल्हाखंड' ऐतिहासिक और जन-परम्परा के आधार पर ही नहीं अपितु प्रकृत-सामग्री के भाषा-विश्लेषण द्वारा भी 'बनाफरी' में लिखा गया, जो कि बुंदेली की एक बोली है और महोबा के आसपास बोली जाती है।

बुन्देली की सामान्य विशेषताएं इस प्रकार हैं :—

१. ध्वनि-समूह एवं उसका शब्दों में प्रयोग व्रजभाषा के समान ही है। साहित्यिक हिन्दी की तुलना में रखते हुए हम कह सकते हैं कि : क. हिन्दी ङ, ञ, ण 7 न, ख. हिं० य, व 7 क्रम से ज, ब,

ग. हिं० श, ष, स, 7 स घ. शब्दों में अनुनासिकता का अधिकाधिक प्रयोग, यथा :—

हिन्नां (हिरण), हांत, पांव, नांक, कांन, मूं, घिंची आदि।

२. जिस प्रकार हिन्दी की अन्य बोलियों के सम्बन्ध में स्पष्ट

किया जा चुका है, हम बुन्देली को उसी दृष्टि से ओकारान्त बहुला भाषा कह सकते हैं अर्थात् हिन्दी संज्ञा, सर्वनाम, कृदन्त के रूपों में जहाँ अन्त्य-आ ध्वनि मिलती है, वहाँ बुन्देली में-ओ मिलता है, यथा :—
हिन्दी, व्रज, बुन्देली क्रमशः गला, गरौ, गरो; बुरा, बुरौ, बुरओ;
मेरा, मेरौ, मोओ, गया, गयौ, गओ आदि ।

३. संज्ञा के मूल तथा विकृत एक वचन और बहुवचन के रूप व्रज भाषा के ही समान हैं, यथा :—

गइया, गइयन (गाय), मौड़ा, मौड़न (लड़का), गोड़ो, गोड़न (पैर), मौड़ी, मौड़ीं (लड़की), बिन्नू, बिन्नूं (बहिन) ।

४. सर्वनाम-रूप भी व्रज-भाषा के समान हैं । यत्किंचित् अन्तर इस प्रकार है :—

उत्तम पुरुष सम्बन्ध कारक रूप—रौ ∠ ओ—हमाओ (हमारा)
मध्यम ,, ,, ,, ,,—रौ ∠ ओ—तुम्हाओ (तुम्हारा)

५. कारक के सम्बन्धों को स्पष्ट करने वाले परसर्गों की सूची इस प्रकार है :

कर्त्ता कारक	नै	(हिन्दी-ने)
कर्म कारक	खां, खौं	(हिन्दी-को)
करण-अपादान कारक	सैं	(हिन्दी-से)
सम्प्रदान ,,	के लानैं, के नानैं	(हिन्दी-के लिए)
सम्बन्ध ,,	कौ, की, के, खौ, खी, खे	(हिन्दी का, की, के)
अधिकरण ,,	मैं, पै, पर	(हिन्दी-में, पर)

६. सहायक क्रिया-रूपों के सम्बन्ध में दो बातें उल्लेखनीय हैं :—
वर्तमान काल आय (हिन्दी-है, बैसवाड़ी आहि, आय), आंय (हिन्दी-हैं), आंव (हिन्दी-हौं), आत (हिन्दी-तू है), आव (हिन्दी-हौं), भूत-काल तो (हिन्दी था, व्रजभाषा-थो), ती (हिन्दी-थी), ते (हिन्दी-थे) ।

७. भविष्यत् काल के रूपों की रचना व्रजभाषा की भाँति-ह के

रूपान्तरों को लगा कर होती है। उदाहरण के लिए हिन्दी 'जाना' क्रिया के रूप बुन्देली में स्पष्ट किये जा रहे हैं। यथा :–

मैं जैहौं, (हिन्दी-मैं जाऊँगा), हम जैहन, (हिन्दी-हम जायेंगे),
तैं जैहत, (तू जायेगा), तुम जैहो, (तुम जाओगे)।
वौ जैहै (वह जायगा), वैं जैहैं, (वे जायेंगे)।

उत्तम पुरुष बहुवचन के साथ 'हम जैबी' आदि रूप भी उत्तर-पूर्व में सुनने में मिलेंगे जो कि अवधी के समान हैं।

पहाड़ी-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

हिमालय की उपत्यका में हिन्दी की ध्वनि एवं व्याकरण सम्बन्धी कुछ समानता रखने वाली बोलियाँ नैपाली, गढ़वाली, कुमाउनी आदि हैं। डा० सुनीतकुमार चटर्जी उन बोलियों का विकास खस-अपभ्रंश से तथा उन्हें शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित मानते हैं। गुर्जर अपभ्रंश का भी विशेष प्रभाव उनके विकास के मूल में बताया जाता है। विद्वानों ने नैपाली को पूर्वी, गढ़वाली और कुमाउनी को मध्य तथा शिमला और उसके आस-पास के प्रदेश के बोली-रूपों को पश्चिमी पहाड़ी के नाम से दिया है। वर्तमान जन-संख्या के अनुसार पूर्वी पहाड़ी बोलने वालों की संख्या ४ लाख १३ हजार, मध्य पहाड़ी की ७ हजार तथा पश्चिमी की २३ लाख २६ हजार बताई गई है।

पूर्वी पहाड़ी को 'पर्वतिया', 'गोरखाली', 'खसकुरा' भी कहते हैं। इस क्षेत्र में चीनी-तिब्बती परिवार की 'नेवाटी' बोली का भी व्यापक प्रयोग होता है। मध्य पहाड़ी के दो मुख्य भेद हैं—गढ़वाली और कुमाउनी। कुमाउनी अल्मोड़ा तथा नैनीताल और गढ़वाली पौरी-गढ़वाल तथा मंसूरी के आस-पास के प्रदेशों में प्रचलित हैं। पश्चिमी पहाड़ी की लगभग ३० बोलियाँ हैं जिनमें उत्तर प्रदेश के जौनसार-बावर स्थान की बोली जौनसारी तथा पश्चिम की शिरमौरी, चंबाली, कुलूई, क्युंथली आदि मुख्य हैं। इन बोलियों में कोई विशेष साहित्य नहीं पाया जाता। नैपाली का सबसे महत्वपूर्ण कार्य अंग्रेज-विद्वान टर्नर द्वारा

'नैपाली-शब्दकोश' है। नैपाल में हिंदी का मान अधिक है। माध्यमिक (गढ़वाली,कुमाउनी) क्षेत्र के कवियों ने ब्रजभाषा में ही रचनाएँ की हैं। किन्तु आधुनिक काल में उनमें साहित्य सर्जना हो रही है। इनका लोक-साहित्य संपन्न है, ये देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती हैं। पश्चिमी पहाड़ी की बोलियाँ शारदा से संबंधित टाकरी लिपि के विभिन्न रूपों में लिखी जाती हैं।

१. इन बोलियों की सामान्य विशेषताओं में वही व्याकरणिक प्रवृत्ति प्रमुख है, जिसके आधार पर खड़ी बोली को आकारान्त, ब्रजभाषा को औकारान्त, तथा बुन्देली और कन्नौजी को ओकारान्त भाषाएँ कहा जाता है। राजस्थानी में भी ओकारान्त प्रवृत्ति विशेष उल्लेखनीय है। विकास की दृष्टि से पहाड़ी बोलियों को भी ओकारान्त भाषाएँ कहा जा सकता है अर्थात् संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा कृदन्त रूपों में जहाँ हिन्दी में अन्त्य -आ ध्वनि है, वहां पहाड़ी बोलियों में अन्त्य-ओ मिलता है।

२. (क) कर्म और सम्प्रदान के कारक सम्बन्धों को स्पष्ट करने वाले परसर्ग-रूप पश्चिमी और मध्य बोलियों में 'सनि, कणि, कैं, हैं' और नैपाली में 'लाई' के प्रयोग उल्लेखनीय हैं :—

(ख) करण कारकीय परसर्ग गढ़वाली 'ने' कुमाउनी, नैपाली 'ले'।

(ग) अपादान ,, ,, ,, 'तैं', 'थैं', नैपाली में 'बाट'।

(घ) सम्बन्ध ,, ,, ,, 'की' 'को' ब्रज-भाषा की भाँति 'की' मिलता है।

(ङ) अधिकरण ,, ,, गढ़वाली 'में', अवधी की भाँति 'मा' रूप विशेष रूप से प्रचलित है।

३. उत्तम पुरुष एक वचन सर्वनाम रूपों में - में, मैं,मेरी तथा बहु-वचन हम, हमन, हमारी आदि प्रयुक्त होते हैं।

४. वर्तमानकालिक सहायक क्रिया के रूपों में गुजराती की भांति- 'छ' वाले रूप प्रचलित हैं। पंजाबी की भाँति 'स' वाले और हिन्दी की

भाँति - 'ह' वाले और भोजपुरी की भाँति - 'ब' वाले रूपों का प्रयोग नहीं होता है।

५. भूतकालिक कृदन्त रूप चलनो, चल्थो आदि ओकारान्त ही हैं।

डा० ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं के सर्वे में पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी तथा बिहारी उपभाषा-खंड की भोजपुरी, मैथिली और मगही मुख्य बोलियाँ दी हैं। लब्ध-प्रतिष्ठ भाषाविज्ञानी डा० बाबूराम सक्सेना ने पूर्वी हिन्दी के केवल दो मुख्य रूप अवधी और छत्तीसगढ़ी माना है। बघेली को अवधी का रूपान्तर कहा है। डा० ग्रियर्सन ने भी इसे स्वीकार करते हुये लिखा है कि बघेली को अवधी से भिन्न रूप केवल जन-धारणा के कारण ही दिया गया है अन्यथा बघेली का अवधी से कोई भिन्न रूप नहीं है।

नीचे पूर्वी हिन्दी की विभिन्न बोलियों की सामान्य विशेषताओं को अलग अलग स्पष्ट किया जा रहा है।

अवधी-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

वैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से अवधी पूर्वी हिन्दी की एक बोली ठहरती है, परन्तु एक विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए समाज के विचार-विनिमय का माध्यम होने के कारण उसे हम मध्यप्रान्त की भाषा भी कह सकते हैं। तुलसी की समाज-भेदिनी दृष्टि ने अवधी को एक बहुत बड़ी व्यावहारिक शक्ति प्रदान की थी परन्तु समाज की कुछ अन्य विपरीत परिस्थितियों ने जिसकी चर्चा ऊपर की जा चकी है, इसे व्रज-भाषा के सामने साहित्यिक भाषा न बनी रहने दिया। फिर भी उसकी अक्षुण्ण परम्परा को हम तीन भागों में बांट कर अध्ययन कर सकते हैं।

१. १००० ई० से लेकर १७वीं शताब्दी के अन्त तक। १००० ई० के आसपास के भाषा-रूपों का तर्क-पूर्ण अनुमान किया जा सकता है, यद्यपि उस युग की कोई निश्चित रचना उपलब्ध नहीं होती। स्वप्नावती, खंडावती, मृगावती, मधुमालती आदि प्रेम - गाथाओं का स्पष्ट उल्लेख उसकी अप्रतिहत गति का दर्शन करा देता है। जायसी तथा इस

परम्परा में आनेवाले अन्यान्य सूफ़ी कवि तत्कालीन अवधी भाषा का अन्यान्य स्वाभाविक रूप सामने रखते हैं। महाकवि तुलसी का रामचरितमानस उस युग की अवधी का एक परिष्कृत और साहित्योपयुक्त रूप है। इसी रूप को आदर्श बना कर तथा आधुनिक युग की विशेष संस्कृतमयी हिन्दी की प्रवृत्ति को अपना कर पं० द्वारिका प्रसाद मिश्र ने 'कृष्णायन' जैसी सुन्दर रचना प्रस्तुत की है। उपरोक्त रचनाओं के विभाजन का यदि साहित्यिक मापदंड न रखा जाए तो भाषा की शुद्ध क्षेत्रीय व्याकरणिक प्रवृत्ति के अनुसार 'रामचरितमानस' की रचना अवधी के बैसवाड़ी रूप-पश्चिमी रूप (वैश्य राजपूतों की प्रधानता के कारण यह प्रदेश उस नाम से प्रसिद्ध हुआ है) को आधार बनाकर हुई है, जबकि पद्मावत आदि प्राप्त सूफ़ी रचनाओं का आधार अवधी का पश्चिमी रूप है। संज्ञा, सर्वनाम तथा क्रिया-रूपों के अन्यान्य उदाहरण इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिये दिए जा सकते हैं परन्तु वाक्य-गठन सम्बन्धी एक अन्तर का उदाहरण देकर ही यहां संतोष किया जा सकता है। रामचरितमानस में भूतकालिक सकर्मक क्रिया वाक्य के कर्म से यत्रतत्र उसी प्रकार सबंधित मिलती है जिस प्रकार पश्चिमी हिंदी में। समीपस्थ होने के कारण वैसवाड़ा पर पश्चिमी हिन्दी की किसी बोली विशेष (व्रजभाषा) का प्रभाव स्पष्ट है। सूफ़ी कवियों के क्रिया-रूप पूर्वी हिन्दी की प्रवृत्ति के ही अनुकूल हैं। इन कवियों के पर्याप्त उदाहरण पहले पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी भेद को दिखलाते हुए दिए जा चुके हैं।

२. १७००—१९०० ई० के बीच व्रजभाषा काव्य-भाषा रही परन्तु भूपति, बेनी, भिखारीदास आदि की रचनाओं को पढ़कर अवधी, व्रज की सम्मिलित कल्पना की जा सकती है।

३. १९०० ई० से अब तक। साहित्यिकों की प्रवृत्ति लोकोन्मुखी होने के कारण फिर से अपनी क्षेत्रीय बोलियों को अपनाने की ओर है। हास्य, व्यंग के रूप में अवधी का पुनरुत्थान पं० प्रतापनारायण

मिश्र के समय से ही मिलता है। आधुनिक अन्यान्य कवि साहित्य के अन्य क्षेत्रों और काव्य के अन्य विषयों के लिए भी अवधी का प्रयोग कर रहे हैं।

क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से कहा जा सकता है कि अवधी अवध प्रान्त के हरदोई ज़िले को छोड़कर शेष समस्त भाग की बोली है। यह लखीमपुर-खीरी, सीतापुर, उन्नाव, रायबरेली, लखनऊ, बाराबंकी, प्रतापगढ़, सुलतानपुर, बहराइच, गोंडा आदि स्थानों में बोली जाती है।

डा० बाबूराम सक्सेना ने अवधी के तीन रूप—पश्चिमी, केन्द्रीय तथा पूर्वी माने हैं। अवधी की ध्वनि एवं व्याकरण सम्बन्धी कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार संग्रहीत की जा सकती हैं:—

१. अवधी पूर्वी हिन्दी की प्रतिनिधि बोली है, इसलिए ऊपर पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी के भेद को स्पष्ट करती हुई जो विशेषताएँ गिनाई गई हैं, वे सब यहां उदाहरण-रूप में लाई जा सकती हैं। अर्थात् असमान स्वरों की समीपवर्ती स्थिति अवधी के उच्चारण के अनुकूल है, परन्तु खड़ी बोली में संधि होने की प्रवृत्ति अधिक है। ह्रस्व 'इ', 'उ' के बाद दीर्घ 'आ' का उच्चारण अवधी भाषा-भाषियों के लिए सुलभ है परन्तु हिन्दी वालों को नहीं, यथा :—

क्रम से अवधी—सिआर, हिन्दी—स्यार (लिखित रूप सियार), कउवा, कौआ; गइया, गैया; गुआल, ग्वाल आदि।

२. ह्रस्व-अ, दीर्घ-आ, के उपरान्त ह्रस्व 'इ' का उच्चारण अवधी में सुलभ है, खड़ी बोली, व्रज भाषा में कदापि नहीं, यथा:—

व्रज—जात, हिन्दी—जाता, अवधी—जाइत।

३. ह्रस्व 'ऍ' और 'ऑ' के उच्चारण की प्रवृत्ति हिन्दी में नहीं मिलती। अवधी में इसका प्रयोग बहुलता से हुआ है, यथा:—

बेटवा, लोटवा, हिन्दी-क्रम से बेटा, लोटा।

बलाघात-वा पर है, फलतः सांस खिच कर-वा पर विशेष रूप से पड़ती है अतएव दीर्घ-ए,-ओ, ह्रस्व रूप में ही मिलते हैं। सर्वनाम

के जेहि, केहि, तेहि आदि रूपों में भी ह्रस्व 'ए' का अनुमान तर्कपूर्ण है क्योंकि तभी तो साहित्य में अनेक रूपों में लिखे गए हैं यथा :—जेहि, जिहि, ज्यहि । यहां तीनों रूप अशुद्ध हैं, ह्रस्व 'ए' ध्वनि के लिए देवनागरी में भिन्न लिपि-चिह्न नहीं हैं, इसलिए व्यक्तीकरण अनेकता लिए हुए है ।

४. कतिपय अवधी संज्ञाओं के तीन-तीन रूप ह्रस्व, दीर्घ, अतिदीर्घ मिलते हैं । यथा:—

घोड़, घोड़वा, घोड़ौना; बेटा, बेटवा बेटौना; लरिका, लरिकवा लरिकौना ।

५. सर्वनाम और विशेषण-रूपों की प्रवृत्ति भी ह्रस्वान्त को ओर है । यथा:—

बड़ < बड़ा, थोर < थोड़ा ; मोर < मेरा, हमार < हमारा, तोर < तेरा, तुम्हार < तुम्हारा ।

पर विशेषण कहीं—'क' निरर्थक प्रत्यय लगाकर अपने रूप को दीर्घ कर लेते हैं । यथा :—बहुतक, कछुक, थोरक आदि ।

६. ब्रज-भाषा तथा अवधी के कुछ अन्य सर्वनाम-रूपों की भिन्नता इस प्रकार स्पष्ट की जा सकती है :—

ब्रज, अवधी, खड़ी (क्रमशः) यौ, जौ, वौ, को; ए, ई, ओ, रू, के; यह, वह, जो, कौन ।

७. (क) परसर्ग रूपों में उल्लेखनीय विशेषता यह है कि अवधी में कर्ता-कारक के सम्बन्ध को स्पष्ट करने वाला 'ने' परसर्ग का प्रयोग नहीं होता है ।

(ख) सम्बंध कारकीय परसर्ग : १. धरम क टीका (मानस) पु०
२. राम कै प्रतीती (मानस) स्त्री०, ३. राम का घोरवा पु०
(ह्रस्व-क इसी से सम्बन्धित है)
४. राम कर दासा (केर, केरी, केरे रूप भी पुरानी अवधी में प्रचलित रहे हैं ।)

८. सहायक क्रियाएँ इस प्रकार है :—

क. वर्तमानकालिक—१. आहि, आय—बैसवाड़ी (पूर्वीअवधी)।
२. बा, बाटै —(पश्चिमी अवधी)।
३. अहै, अहौं आदि—(पुरानी अवधी)।

ख. भूतकालिक— १. रहेऊँ, रहा, रही आदि।
ऊ आवा रहा (वह आयाथा)।
२. अहै आदि भी पुरानी अवधी में मिलते हैं।

९. भविष्यत्काल की रूप-रचना अवधी में—ब लगाकर होती है। कतिपय व्याकणिक स्थानों में—ह के अवशेष-चिह्न भी प्रचलित हैं। यथाः—हम जाब (हिन्दी—मैं जाऊँगा), ऊ जाई, ऊ जइहै (हिन्दी—वह जाएगा)

१०. क्रियार्थक संज्ञा के रूपों की रचना—ब लगाकर होती है, यथा :—देखब (हिं०-देखना), घूमब (हिं० घूमना)।

बघेली-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

बघेली बघेलखंड की बोली है जिसका केन्द्र रीवां-राज्य माना जाता है। किन्तु इसका विस्तार दमोह, जबलपुर मांडला, बालाघाट आदि ज़िलों में भी पाया जाता है। फतेहपुर, हमीरपुर, बांदा में भी इसका व्यवहार बुंदेली मिश्रित रूप में होता है। इस क्षेत्र के उत्तर में अवधी, पूर्व में छत्तीसगढ़ी, दक्षिणा-पश्चिम में बुंदेली बोलियों का विस्तार मिलता है। लिंग्विस्टिक सर्वे में इसके बोलने वालों की संख्या ४६,१२,७५६ दी गई है, अब यह संख्या अधिक ही है।

मध्यकाल में रीवा-राज्य उच्चकोटि के कलाकारों का केन्द्र था। प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन, बीरबल, नरहरि आदि कवियों का सम्बन्ध रीवां-राज्य से था और यहीं से वे अकबरी दरबार में पहुँचे थे। रीवां के महाराजा भी केवल प्रसिद्ध गुणपारखी ही नहीं वरन् उच्चकोटि के विद्वान भी रहे हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है बघेली के रूप अवधी के समान ही प्रयुक्त होते है। परन्तु शब्दों में ध्वनि-सम्बन्धी

विशेषता अवश्य वर्तमान है। कुछ प्रयोग भी भिन्न हैं। बघेली की कतिपय विशेषताओं को इस प्रकार संग्रहीत किया जा सकता है—

(१) संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि शब्दों के मध्य में प्रयुक्त—ओ तथा -ए ध्वनियों का-वा और-या में परिवर्तन मिलता है। यही प्रवृत्ति कम या अधिक मात्रा में बैसवाड़ी में भी मिलती है। जैसे घोड़ा – घ्वाड़ि, मोर—म्वार, खेत—ख्यात, जेहि-ज्यहि।

(२) संज्ञा के रूप अवधी के समान ही हैं। यथा—घ्वाड़, घ्वाडे (मूल), घ्वाड़, घ्वाड़न (तिर्यक)।

(३) सर्वनामों के एक वचन में मय, म्वहि, म्वार और बहु० में, हम्ह, हम्हारे, हम्हार रूप मिलते हैं।

(४) इनमें कर्ता 'ने' परसर्ग का अभाव है। का, कहा, से,तर, कर आदि कारक-चिह्नों का प्रयोग होता है।

(५) सहायक क्रिया वर्तमान काल में है, हूँ एक०, हैं, अहेन बहु०, भूतकाल में रहा, रहेऊं—एक०, रहेन बहु०, भविष्य में होइ, होव्येउँ एक०, होइहैं, होब बहु० में होते हैं।

(६) क्रियाओं में भूतकाल के रूपों के साथ एक वचन में — रहा और बहु वचन में- ता, तें, प्रत्यय लगते हैं। उदा० उत्तम पुरुष एक० रहे हुँते, बहुवचन में रहेनतें। भविष्यकाल के उत्तम मध्यम तथा अन्य पुरुषों में क्रमशः देखव्यउं, देखिब, देखिबेस, देखिबा, देखी, देखिहैं होता है। ब 7 ह रूप का प्रयोग अवधी के समान मिलता है। उदा० देखबेयउँ, देखिहौं।

छत्तीसगढ़ी-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

छत्तीसगढ़ी का विस्तार रायपुर, विलासपुर के जिलों,कांकेर, नंदगांव, खैरागढ़, रामगढ़ तथा कुछ भिन्न रूप में कोरिया, सरगुजा, उदयपुर, जश-पुर आदि स्थानों में और बालाघाट में खल्वाटी (खलोटी) नाम से पाया जाता है। डा० ग्रियर्सन ने लिंग्विस्टिक सर्वे में इसके बोलने वालों की जन-संख्या ३७,५५, ३४३ दी है। अब यह संख्या अधिक ही है। छत्तीस-

गढ़ी में व्याकरण आदि ग्रन्थों की रचना मिलती है। परन्तु कोई साहित्य उपलब्ध नही होता। केवल लोकगीत प्रचलित मिलते हैं।

इस बोली की कुछ विशेषतायें ये हैं—

(१) संज्ञा, सर्वनाम में—ऐ,—औ ध्वनियों का क्रमशः-अइ और-अउ मिलता है। जैसे बैल—बइल, जौन—जउन, तौन-तउन,कौन—कउन आदि।

(२) शब्द के मध्य में—'ड़' ध्वनि का लोप मिलता है। यथा—लड़िका—लइका।

(३) संज्ञा के प्राचीन रूप में—अन प्रत्यय तथा आधुनिक में—मन प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। उदा० लड़िकामन, परन्तु कभी-कभी इसका प्रयोग नहीं भी किया जाता है।

(४) कारकों में का, ला, बर ले, से, कें, मा आदि परसर्ग प्रयुक्त होते हैं।

(५) उत्तम पुरुष सर्वनाम एक वचन में-में, मैं, तिर्यक मो, मोर, तथा बहु० हम, हममन आदि रूप मिलते हैं।

(६) क्रियाओं में वर्तमान—कालिक 'हूं' का उत्तम पु० एक वचन में हवउं, म० पु० हव, प्र० पु० हवै तथा बहु० में हवन,हवै, हवैं(क्रमशः)और आदरार्थक रूप एक वचन हौं, आंव, हय, है आदि, बहु० में हन्, हौ, है आदि व्यवहृत होते है।

(७) भूतकाल एक बचन में रहेउँ, रह्यौं, रहे, रहै, बहु० में रहेन, रहैय् आदि प्रयुक्त होते हैं।

(८) वर्तमानकालिक कृदंत—अत प्रत्यययुक्त उदा० देखत और भूत-काल मे—ए उदा०, देखे, क्रियार्थक संज्ञा के रूप देख, देखन, देखब आदि मिलते है।

भोजपुरी-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

हिन्दी की बिहारी बोलियों में भोजपुरी का क्षेत्र अधिक व्यापक तथा हिन्दी के अधिक निकट है। शाहाबाद ज़िला के उत्तर-पश्चिम में 'भोजपुर'[२] परगना के आधार पर भोजपुरी का नामकरण हुआ है। वर्तमान

काल में भी छोटका भोजपुर तथा बड़का भोजपुर नामक गांव पाये जाते हैं। भोजपुरी का विस्तार शाहाबाद, सारन, चम्पारन, रांची, मुजफ्फरपुर का पश्चिमोत्तर भाग, उत्तर-प्रदेश के पूर्वी जिलों-बाराणसी, गाजीपुर आजमगढ़, बलिया, जौनपुर एवं मिर्जापुर, गोरखपुर के कुछ भागों में पाया जाता है। इसके बोलने वालों की संख्या सर्वे में २,०४१२६०८ दी गई है। अब यह संख्या बढ़ गई है। डा० ग्रियर्सन ने भोजपुरी के उत्तरी, दक्षिणी, पश्चिमी तथा नगपुरिया रूप दिये हैं। दक्षिणी भोजपुरी टकसाली भोजपुरी मानी जाती है जिसका विस्तार शाहाबाद, सारन, बलिया तथा पूर्वी गाजीपुर में मिलता है। इस स्टैंडर्ड रूप को अधिक श्रुतिमधुर तथा संगीतात्मक स्वराघात सम्पन्न माना गया है। सर्वनाम 'रउआं' के रूप 'राउर' आदि केवल टकसाली रूप में ही मिलते हैं। डा० उदयनारायण तिवारी ने भोजपुरी भाषा के उद्गम और विकास का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

भोजपुरी का गद्य-साहित्य भी विकसित हो रहा है। राहुल सांकृत्यायन ने इसमें आठ नाटकों को प्रकाशित किया है। श्री अवध बिहारी सुमन भोजपुरी के सफल कहानी लेखक हैं। इनके अतिरिक्त कई कहानी और नाटक लेखक हैं। लोक कथाओं में भी गद्य का सुन्दर रूप मिलता है।

भोजपुरी का कोई स्वतन्त्र साहित्य उपलब्ध नहीं होता। फिर भी हिन्दी के संत कवियों—कबीर, धर्मदास, धरणीदास, शिवनारायण, भीखा साहब आदि के पदों में भोजपुरी का प्रयोग हुआ है। भोजपुरी के अनेक आधुनिक कवि प्रतिभा-सम्पन्न माने जाते हैं। डा० कृष्ण देव उपाध्याय ने भोजपुरी लोक गीतों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। भोजपुरी के लोक गीतों का साहित्य बहुत ही सुसंपन्न है जिसमें वहाँ के सामाजिक जीवन का सुन्दर संगीतमय चित्रण मिलता है।

भोजपुरी की कतिपय विशेषताएँ ये हैं—(१) भोजपुरी के उत्तरी (गोरखपुर) रूप में अनुनासिक ध्वनि का आगम मिलता है। यथा-भाट-भाँट, नाद-नाँद। सारन तथा मुजफ्फरपुर की बोली में र ∠ ड़ मिलता

है। यथा-घोड़ा - घोरा, सड़क-सरक। गोरखपुर, बस्ती में भी यह रूप मिलता है। जैसे पड़ल - परल।

(२) भोजपुरी की नगपुरिया बोली में बंगला भाषा के प्रभाव से अकारांत का ओकारांत उच्चारण हो जाता है। जैसे—कल-कोल।

(३) भोजपुरी में संज्ञा एवं विशेषण के तीन रूप-माली, मलिया, मलिनयवा मिलते हैं। कुछ शब्दों के दो-दो रूप होते हैं।

(४) बहुवचन के रूप-नि,-न्ह,-न आदि प्रत्यय तथा सभ, लोग आदि शब्दों के योग से बनते हैं जैसे—घरन-घरन्ह, रउआँ, सभन् मिलते हैं।

(५) इसमें कर्ता कारक में कोई प्रत्यय या परसर्ग नहीं जुड़ते। करण में-ए,-अन् प्रत्यय जुड़ते हैं। यथा-भूखें (भूख से), अधिकरण में -ए, -एँ, संबंध में-र का योग होता है—घरे, मोर आदि। इनमें परसर्गों का भी प्रयोग होता है।

(६) पुरुष वाचक सर्वनाम एक बचन में–(मूल), मोहि (विकारी), मोर (संबंध),बहु०—में (मूल) हमनिका(विकारी),हमरि (संबंध) तथा इनके आदरार्थक रूप हम, हमरा, हमार, हमरन प्रयुक्त होते हैं।

(७) क्रियादि पुलिंग उत्तम पुरुष एकवचन के रूप बाड़ी, बाड़े, बारी, म० पु० बाड़े, प्र० पु० बाड़े, बा तथा बहु० में बाटी, बाटैं, बाटेन रूप मिलते हैं।

(८) भूतकाल के एक वचन में रहली, रहले, रहल, रहलसि बहु० में रहलीं, रहलन्हि, रहलेसन्हि रूपों में पुरुष विशेष की सूचना शब्दों में ही निहित है। पश्चिमी हिन्दी की बोलियों में ऐसे रूप का अभाव पाया जाता है।

मैथिली-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

मैथिली के लिये तिरहुतिया तथा मिथिला-भाषा नाम भी प्रचलित मिलते हैं। मैथिल-कोकिल विद्यापति ने इसे देशी बोली (देसिल बअना) के नाम से तथा १९ वीं शताब्दी के अंत में कविवर चंदा झा ने इसे मिथिला - भाषा के नाम से अभिहित किया है। मैथिली का

विस्तार दरभंगा, पूर्णिया, गंगापार, दक्षिण के मुंगेर तथा भागलपुर में मानी जाता है। सर्वे में डा० ग्रियर्सन ने इसके बोलने वालों की संख्या १ करोड़ के लगभग दी है। मैथिली के बोलने वाले बंगाल, असाम आदि प्रान्तों में भी पाये जाते हैं। मैथिली की कुछ बोलियां हैं। आदर्श-रूप उत्तरी दरभंगा, दक्षिणी—मैथिली दक्षिणी दरभंगा, पूर्वो मुजफ्फरपुर, उत्तरी मुंगेर, उत्तरी भागलपुर, पश्चिमी पूर्निया, पूर्वी मैथिली-पूर्वी पूर्निया, माल्दा, दिनाजपुर, छिकाछिकी रूप दक्षिणी भागलपुर, मुंगेर, पश्चिमी मैथिली-पश्चिमी मुजफ्फरपुर, पूर्वी चम्पारन, जोलही रूप उत्तर दरभंगा के मुसलमानों में प्रचलित बताई गई है।

विहारी बोलियों में सब से अधिक संपन्न साहित्य मैथिली भाषा का ही माना जाता है। इसका आरंभ १४वीं शताब्दी की ज्योतिरीश्वर ठाकुर कृत प्रसिद्ध गद्य-रचना वर्णरत्नाकर से माना जाता है। १५वीं शताब्दी के मध्य में लखिमा ठकुरानी, विद्यापति, गोविन्ददास, लोचन, १७वीं-१८वीं में उमापति, रामदास, रमापति, १९वीं में नन्दीपति, रत्नपाणि, भानुनाथ, हर्षनाथ आदि प्रसिद्ध कवि हुए। विद्यापति के अनंतर उमापति तथा हर्षनाथ का ही विशेष मान किया जाता है। मनबोध झा तथा चंदा झा मैथिली के प्रबन्धकार तथा महाकवि माने जाते हैं। वर्तमान लेखकों तथा कवियों में रघुनंदनदास, सीताराम झा, बदरीनाथ झा तथा चंदा झा, मोतीलाल दास, भुवन, सुमन, तन्त्रभाव, ईशनाथ आदि उल्लेखनीय हैं। मैथिली का लोक-गीत भी मधुरतम-रूप में मिलता है। इनका एक संग्रह मैथिली लोकगीत के नाम से श्री राम इकबाल सिंह 'राकेश' ने प्रकाशित किया है।

मैथिली की कतिपय विशेषतायें ये हैं—

(१) मैथिली की सभी बोलियों में अ, इ, उ, का अतिलघु उच्चारण होता है। छिकाछिकी में ए, ओ का इसी प्रकार उच्चारण होता है।

(२) मैथिली में संज्ञा तथा विशेषण के तीन रूप भोजपुरी की

भांति ह्रस्व, दीर्घ, अतिदीर्घ-घर, घरवा, घरउवा; मीठा, मिठका, मिठकवा मिलते हैं।

(३) बहुवचन के रूप सभ, सबहि, लोकनि आदि शब्दों के योग से बनते हैं। उदा० नेनासभ-लड़कों।

(४) विभक्तियों में करण में-एं, उदा० नेनें (लड़के), नेनिएँ (लड़कियाँ), संबन्ध में - क, -अक, उदा० नेनाक, अधिकरण में -ए, -हि, -ही जुड़ते हैं। उदा० घरे, घरहि आदि।

(५) कारकों में कें (संप्रदान), सें, सों (करण-अपादान), केर, कर (संबंध), मँ, में (अधिकरण) के रूप मिलते हैं। संज्ञा के विकारी रूपों में अन्त्य -ब,-र,-ल का-बा,-रा,-ला हो जाता है। उदा० पहर, 7 पहरा सौं।

(६) पुरुष-वाचक सर्वनामों में हम, हमार, हम सभ, तोह, तोहार, तोह सभ, अपनहि अपन, अपन सभ आदि रूप प्रयुक्त होते हैं। निश्चयवाचक सर्वनामों के संबंध रूप में आदरसहित और आदररहित दो रूप होते हैं। यथा—एकर (इसका), हिनक (इनका), विकारी रूप एकरा, हिनका, ओकरा, हुनका आदि होते हैं।

(७) लिंग-भेद—ई या—इ प्रत्यय के योग से होता है। संज्ञा आकारांत में -ई और विशेषण में—इ जुड़ता है। यथा—नेना (लड़का), नेनी (लड़की), बड़ (बड़ा), बड़ि (बड़ी)।

(८) सहायक क्रियाओं में वर्तमानकालिक रूप 'हुं' का गुजराती के सदृश 'छ' रूप के प्रयोग मिलते हैं। उदा० उत्तम पु० एक० छिअहुं छिएं, छी, छिऐन्हि, म० पु० छह, छे, छिऐ, छिऐन्हि, प्र० पु० अछि, छै, छिक्, छैन्ह, छिथीन्हि आदि। इसके लिये थिक रूप भी मिलता है, उदा० थिकहू, (उत्तम), थिकह (मध्यम), थिक (प्रथम) आदि।

(९) भूतकाल की क्रियाओं में 'छ' रूप होता है यथा—छलहु, छलह, छल। इसके अतिरिक्त रह, रही, रहह, रहै रूप भी व्यवहृत होते हैं।

(१०) क्रियावाचक विशेष पद -व, -ल के योग से बनते हैं। यथा—मूल० देखब, विकारी० देखबा, देखल, देखला। पूर्वकालिक

क्रिया-रूप देखिकें, देखिकैं, वर्तमानकालिक कृदंत देखैत, भूत में देखल होता है। मैथिली में एक ही क्रिया के तीन या चार रूप तक होते हें। अतः उसका रूप काफी जटिल है।

मगही-क्षेत्र तथा विशेषताएँ

यह पुराने 'मागधी' नाम से संबंधित है। शिक्षित-वर्ग में मागधी नाम भी प्रचलित है। मगही का विस्तार पटना, गया, हजारीबाग, मुंगेर, तथा भागलपुर के पूर्वी भागों में पाया जाता है। इसके उत्तर में मैथिली, पश्चिम में भोजपुरी बिहारी बोलियां प्रचलित हैं। सर्वे में इसके बोलने वालों की संख्या ६५ लाख के लगभग दी गई है। अब यह संख्या वढ़ गई है। इसका कोई विशेष साहित्य उपलब्ध नहीं होता। प्रचलित लोकगीतों का उल्लेख मिलता है।

मगही के कुड़माली, खोण्टाली बोली-रूप भी मिलते हैं। कुड़माली वहाँ की अनार्य जाति कुड़मी की बोली है जो उड़िया भाषा से घिरी है। खोण्टाली पश्चिमी माल्दह की बोली है जो बंगला भाषा से घिरी है।

मगही की कुछ विशेषताएं निम्नलिखित हैं :—

(१) मगही की कुड़माली बोली में-ओ 7-अ हो जाता है। यथा—ओकर-अकर (उसका), मोर-मर (मेरा), भोज-भज, (निमंत्रण), लोक-लक (मनुष्य)। इसमें इच्छा का हिछा मिलता है। शब्दों में -इ, -ए के पूर्व -अ का -ए ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है। यथा--कहिके (कहकर)-कहिलेक् (उसने कहा)।

(२) संज्ञा के तीन रूप भोजपुरी, मैथिली के सदृश ही घर, घरवा, घरौना प्रयुक्त होते हैं।

(३) बहुवचन के रूप-न प्रत्यय तथा सभ, लोग के योग से बनते हैं। यथा-घोरा-घोरन, घोरा सब, राजा लोग।

(४) विभक्तियों में करण के लिये -ए, -एं, अधिकरण में-ए का योग मिलता है। यथा– घोरें (घोड़े से), घोरे (घोड़े में)। इनका बहुवचन रूप नहीं मिलता।

(५) कारकों में (मूल, विकारी), में-के, (कर्म-संबंध); से, सें, सेति (करण, अपादान); ला, लागि (संप्रदान), क, केर, के (संबंध); में, में, मों (अधिकरण) का प्रयोग होता है ।

(६) पुरुष वाचक सर्वनाम एक बचन में आदररहित हम (मूल), मोरा (विकारी), हमरा (संबंध), बहु० में हमनी तथा आदरार्थक रूप एक वचन हम, हमरा, हमार और बहु० हमरनी आदि प्रयुक्त होते हैं।

(७) सहायक क्रिया के वर्तमान काल में ही (उत्तम०), हें, हहिन (मध्यम), है, हहिन्, हइन (प्रथम०); भूतकाल में क्रमशः हल्, हलीं, हलहिन्, हल्, हले, हलन् रूप होते हैं।

(८) क्रिया-विशेष्य पद में देख् का देखब, देखल, विकारी-देखला, वर्तमानकालिक कृदन्त देखित्, देखैत, भूत में देखल, पूर्वकालिक क्रिया देखके होता है। बिहारी बोलियों के भेद को स्पष्ट करते हुए डा० ग्रियर्सन ने सर्वे में प्रश्नवाचक सर्वनाम का एक उदाहरण दिया है—

कसकस कसमर किना मगहिया
का भोजपुरिया की तिरहुतिया ।।

अतएव, संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिन्दी की उपर्युक्त बोलियां अपनी विशेषताओं के साथ पनपती हुई दृष्टिगत होती हैं। इन सभी के समान रूप एक दूसरे के भाषा-रूप तथा साहित्य को समझने में सहायक सिद्ध हुये हैं और इस रूप में इनका एक दूसरे से घनिष्ट संबन्ध स्थापित हो रहा है एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी को और अधिक पुष्ट करने में इन के योग की पूरी संभावना है।

५

भारतीय लिपियाँ और देवनागरी

लिपि अथवा लिखावट की प्रेरणा आदिम मनुष्य को अपने चारों ओर के प्राकृतिक वातावरण से मिली होगी। आकाश में स्थित तारे, रम्य उपवन में उगे पौधे बराबर उसे अपना मूक संदेश देते रहते थे। वह अपनी विचारधारा को भी इसी प्रकार स्थायी बनाने के लिये सचेष्ट हुआ होगा और सर्वप्रथम उसे सबसे सरल उपाय यही सूझा कि वह अपनी भावनाओं को पूर्ण रूप से चित्रित कर दे। चित्रकला के विकास का यही मूल आधार रहा होगा। अपने भावों को सुरक्षित और स्थायी बनाने के लिये आदिम काल से मनुष्य ने तरह तरह के ढंग निकाले। इसके कुछ प्रमाण मिलते हैं। पेरू प्रदेश में कुइपु (quipu) नाम की डोरियों का उल्लेख मिलता है। इन डोरियों में रंग-विरंगे धागों की गाँठें लगा दी जाती थीं और धागों के विविध रंगों तथा गांठों के बंधे रूप से विविध भावों का बोध कराया जाता था। चमड़े में मोती, मूंगे आदि पिरोकर जिसे वैम्पम् (wampum) कहा गया है, भाव को सुरक्षित रखने की परंपरा उत्तरी अमरीका के लोगों में प्रचलित थी। किसी बात को याद रखने के लिये गांठ बांधने के उदाहरण अब भी अशिक्षित-वर्ग में मिलते ही हैं। शिक्षित-वर्ग में 'गांठबांध लेना' मुहावरा भी प्रचलित मिलता है। चित्रों द्वारा अर्थबोध कराने की परंपरा बहुत

पुरानी है। कई देशों में घटनाओं को चित्रित करके उन्हें स्थायी बनाया जाता था। जावा में रामायण की समस्त घटनाएँ पत्थर पर खुदी हुई हैं। जानवरों की खालों, सींगों पर बने हुए चित्रों के उल्लेख मिलते हैं। उत्तरी अमरीका, मिस्र, डेनमार्क, न्यूज़ीलैंड, पूर्वी द्वीपसमूह आदि देशों मे इस प्रकार की चित्र-लिपि (pictography) के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। भारतवर्ष की प्राचीन लिपि 'ब्राह्मी' का प्रारंभिक रूप भी चित्रात्मक माना जाता है। इसमें पत्थर का उपयोग सम्भवतः इस-लिये किया गया क्योंकि अन्य वस्तुएँ नाशवान थीं और यह अधिक स्थायी था।

'दो मिले हुए हाथों से मित्रता की भावना', 'वृक्ष के ऊपर सूर्य' के चित्र मे प्रकाश, 'वृक्ष के नीचे सूर्य' के चित्र से अन्धकार, 'जल के पास दौड़ते हुए बछड़े' के चित्र से प्यास, 'पंख फैलाये हुए पक्षी' से शीघ्रता, 'अंगूर की बेल' से मित्रता, 'घर को काला करके दिखाने से, वंदीगृह आदि भावों का बोध होता था। विविध पशु-पक्षियों के चित्रों से उनके नामों का परिचय कराया जाता था। धीरे धीरे संपूर्ण चित्र के स्थान पर उनके संकेतमात्र से ही भाव का बोध होने लगा। वे संकेत-भाव विशेष अथवा वस्तु विशेष के लिए रूढ़ि हो गये। यह लिपि-विकास की दूसरी स्थिति है जिसे भावात्मक चित्र-लिपि (ideography) कहा गया है। बाद में यही संकेत किसी वस्तु अथवा भाव से संबंधित शब्द के लिये अपना लिये गये। 'शब्द' के लिए प्रयुक्त वही सांकेतिक चित्र फिर घिस कर 'अक्षर' के लिये अपना लिया गया और कालान्तर में वह एक 'ध्वनि' का बोधक हो गया। किन्तु चित्र लिपि से ध्वन्या-त्मक लिपि का क्रमिक विकास सभी देशों ने समान रूप से नहीं पाया जाता। कुछ देशों ने अपनी लिपियाँ ध्वन्यात्मक रूप में विकसित कर ली हैं और कुछ केवल अक्षर-लिपि तक ही विकसित हो सकीं। चीनी-लिपि इसी प्रकार की है। किन्तु चीनी-लिपि का आधार लेकर जापानी लिपि ध्वन्यात्मक रूप में विकसित हो गई है।

प्राचीनता की दृष्टि से कैल्डिया, मिस्र, चीनी, फ़ोनीशी, सुमेरी तथा भारतीय भाषा-भाषी लोगों की गणना की जाती है। फ़ोनीशी से यूनानी और यूनानी से रोमन लिपि का विकास माना जाता है। सुमेरी लिपि के उल्लेख लोहे की कीलों से ईंटों पर खुदे हुए मिले हैं। ईंटों पर लकीरें आसानी से खींची जा सकती थीं इसलिये यह लिपि सीधी, तिरछी आदि लकीरों के रूप में ही व्यक्त हुई है। इस लिपि का संबंध सामी लिपि से जोड़ा गया है। यह अनुमान है कि सामी लिपियां (आर्मीनी, अरमी, कीलाक्षर आदि), सुमेरी तथा फ़ोनीशी लिपियों से विकसित हुईं।

भारतवर्ष की प्राचीन लिपियां ब्राह्मी तथा खरोष्ठी हैं। खरोष्ठी लिपि के भारत के पश्चिमोत्तर, चीनी-तुर्किस्तान आदि स्थानों में प्रचलित मानी गई हैं। प्राचीन काल में ब्राह्मी भारत की व्यापक लिपि थी। भारतीय लिपियों के मूल स्रोत तथा प्राचीनता के संबंध मे काफी मतभेद मिलता है। पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों में आज भी इस संबंध में मतैक्य नहीं पाया जाता। खरोष्ठी लिपि का अशोक के पश्चिमोत्तर भाग के शिलालेखों में प्रयोग हुआ है। शहबाजगढ़ी, मनसेहरा के शिलालेख इसी लिपि में हैं। कुछ सिक्कों में भी इसके अक्षर मिलते हैं। इस लिपि के लिखने का ढंग ब्राह्मी से भिन्न है। खरोष्ठी दांई से बांई और ब्राह्मी बाई से दाई ओर को लिखी जाती है। अतः खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपियों के उद्गम भिन्न-भिन्न स्रोतों से कहे जा सकते हैं।

खरोष्ठी लिपि का संबंध ईरान की अरमी लिपि से जोड़ा गया है क्योंकि दोनों के अक्षर एक दूसरे से काफी मिलते हैं। 'खरोष्ठी' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में कई अनुमान लगाये गये है। 'खरोष्ठ' नामक किसी आचार्य के द्वारा अरमी का भारतीयकरण हुआ हो इसलिये यह खरोष्ठी कहलाई अथवा संभव है कि अक्षरों की आकृति गधे के ओठ के सदृश होने के कारण इसका यह नाम पड़ा हो। अभी तक इस संबंध

मे कोई निश्चित मत नहीं निकल सका है। डा० चटर्जी हिब्रू-खरोशेथ (लिखावट)से इसे सम्बंधित करते हैं। कुछ भारतीय तथा चीनी विद्वानों ने खरोष्ठी को भारत की उपज सिद्ध किया है किन्तु यह मत मान्य नहीं है।

भारतवर्ष की आधुनिक उर्दू लिपि खरोष्ठी के सदृश ही दाईं से बाईं ओर लिखी जाती है किन्तु यह लिपि अरबी-फ़ारसी लिपि से अधिक संबंधित है। खरोष्ठी पर भी फ़ारसी-अरबी का प्रभाव जान पड़ता है। भारत में मुग़लों के शासनकाल में जब फ़ारसी राज्य-भाषा बनी तो उसके साथ उक्त लिपि का व्यवहार भी व्यापक हो गया। उर्दू भाषा हिन्दी का एक रूपान्तर मात्र है, यह पहले कहा जा चुका है। चूकि इसमें फ़ारसी-अरबी शब्दों की बहुलता है इसलिये फ़ारसी-अरबी लिपि ही इसके लिये अधिक उपयुक्त थी। उर्दू भाषा-भाषी लोगों में इसी लिपि का व्यवहार पाया जाता है।

ब्राह्मी लिपि को अभारतीय सिद्ध करने का प्रयास कई विदेशी विद्वानों द्वारा किया गया। पाश्चात्य विद्वानों में बर्नेल, प्रिंसेप, मूलर, सेनार्ट, विलसन आदि ने ब्राह्मी का संबंध ग्रीक अथवा फ़ोनीशी लिपि से जोड़ा है। इन लोगों के मतानुसार फ़ोनीशी जाति का व्यावसायिक संबंध भारत से था और तभी भारतीयों ने उनसे लिपि का प्रयोग करना सीखा। बूलर, वेबर, टेलर, जोंस आदि ने ब्राह्मी का संबंध सामी लिपि से जोड़ा है। इन विद्वानों का अनुमान है कि ईरान के मार्ग से यह भारत में पहुँची। बूलर ने भारत में सामी वर्णों का प्रवेश ८०० ई० पूर्व के लगभग माना है। इसी प्रकार किसी ने ब्राह्मी का संबंध असीरी-कीलाक्षर तथा चीनी लिपि से भी जोड़ने का प्रयास किया है एवं किसी ने खरोष्ठी से ब्राह्मी लिपि का विकास सिद्ध किया है किन्तु वर्णों की आकृति तथा लिखने के ढंग से ब्राह्मी लिपि किसी विदेशी लिपि से संबंधित नहीं होती। चीनी लिपि ऊपर से नीचे लिखी जाती है, ब्राह्मी की भाँति बायें से दायें ओर नहीं। अतएव मनमाने ढंग और खींचातानी से ब्राह्मी के वर्ण विदेशी लिपियों से नहीं जोड़े जा सकते।

यहाँ पर उन भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने ब्राह्मी को भारतीयों का मौलिक आविष्कार सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसमें महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, डा० तारापोरवाला, डा० प्राणनाथ विद्यालंकार, डा० राजबली पांडेय, एडवर्ड थामस, डासन, कनिंघम आदि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। जिन विद्वानों ने ब्राह्मी को विदेशी लिपियों से संबंधित किया है उन्होंने भारतीय लिपि का प्राचीनता बहुत काल की नहीं मानी है किन्तु तथ्य इसके विपरीत हैं। भारतीय तथा कुछ विदेशी सूत्रों से भारतीय लिपि की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज़, चीनी यात्री ह्वेनशांग ने भारतीय लिपि की प्राचीनता स्वीकार की है तथा चीनी विश्वकोष में ब्राह्मी-लिपि को ब्राह्मी के द्वारा निर्मित भारतीय लिपि माना गया है। ग्रीक-सूत्रों से यह भी पता चलता है कि भारतीय लिखने के लिये कागज़ तथा पेड़ों की छालों का व्यवहार करते थे। बौद्ध ग्रंथों में भी लिपि की प्राचीनता के कइ सांकेतिक उल्लेख मिलते हैं। 'ब्रह्मजाल-सुत्त' में 'अक्खरिका' नामक बच्चों के खेल का परिचय दिया गया है जो पीठ पर या आकाश में उंगली से बनाये गये अक्षरों का बूझना था। 'सुत्तान्त' में भिक्षुओं के लिये यह खेल न खेलने का आदेश दिया गया है। 'विनयपिटक' में भिक्षुओं के लिये लेखन का कार्य प्रशंसनीय बताया गया है। गृहस्थों तथा उनके पुत्रों के लिये लेखन-व्यवसाय को जीविका का उत्तम साधन कहा गया है। जातक, महावग्ग में भी ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं जिनमें लेखन-कला के अध्यापन तथा इसके लिये आवश्यक सामग्री आदि की शिक्षा दी जाती थी। 'ललितविस्तर' ग्रंथ में एक उल्लेख मिलता है कि शिशु-अवस्था में गौतम बुद्ध एक लिपिशाला में गये और उनके गुरु विश्वमित्र ने चंदन की तख्ती पर स्वर्ण-कलम से उन्हें लिखना सिखाया।

जब बौद्ध काल में लेखन-कला उन्नत रूप में थी तो उसकी प्राची-

नता सैकड़ों वर्षों पहले की आंकी जा सकती है। बौद्ध साहित्य से भी पूर्व प्राचीन संस्कृत-साहित्य में लेखन-कला संबंधी कई उल्लेख मिलते हैं। रामायण, महाभारत में लेख, लेखन, लेखक आदि शब्दों के प्रयोग पाये जाते हैं। महाभारत के आदि-पर्व में यह लिखा मिलता है कि उसके रचयिता व्यास ने गणेश नामक प्रवीण लिखिया से उसे लिपि-बद्ध कराया। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र, साहित्य में तत्संबंधी कई उल्लेख लिपिबद्ध हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने स्पष्ट किया है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी में लिपि, लिवि, लिपिकर, ग्रन्थ, यवनानी, स्वरित आदि शब्द मिलते हैं। यवनानी से आशय यूनान की लिपि से है तथा स्वरित लखने का एक चिह्न होता है। इसी में महा- भारत को ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया गया है तथा व्याकरण के पूर्ववर्ती लेखकों अपिशलि,कश्यप, गालव, गार्ग्य, चक्रवर्मन, भारद्वाज, यास्क, शाकल्य, शाक्टायन, सेनक, स्फोटायन के उल्लेख मिलते हैं। पाणिनि के पूर्व यास्क ने निरुक्त में अपने से पूर्व के लेखकों—औदुम्बरायण, अग्रा- यण, औपमन्यव, शतबलाक्ष, शाकपुरि आदि का परिचय दिया है। इन उदाहरणों से लेखन-कला कीप्राचीनता बौद्धकाल से भी पूर्व की सिद्धहोती है। उपनिषद् एवं ब्राह्मण-ग्रंथों में भी तत्संबंधी उल्लेख मिलते हैं। भारतीय वाङ्मय की प्राचीनतम रचना ऋग्वेद् में गायत्री, अनु ष्टुप, त्रिष्टुप, जगती आदि छन्दों के उल्लेख से भी लेखन-कला का संकेत मिलता है। यहीं एक और उल्लेखकिया गया है कि राजा सावर्णि ने एक हजार 'अष्टकर्णी' गायें दान में दीं। 'अष्टकर्णी' का अर्थ है कि जिनके कानों पर ८ की संख्या अंकित थी। अंकों का विशद उल्लेख भी वेदों में मिलता है। करोड़ों की संख्या की गणना बिना लिखे निश्चित नहीं की जा सकती।

इस सम्बन्ध में श्रुतियों से कुछ भ्रम हो गया है। 'श्रुति' से यह अर्थ लगाया जाता है कि पहले सुनकर याद कर लेने की प्रथा थी क्योंकि, लेखन-कला का विकास नहीं हुआ था। किन्तु तथ्य यह है कि वैदिक मंत्रों की प्रतिष्ठा के लिये उनका शुद्ध उच्चारण आवश्यक था, यह

पुरोहित द्वारा उच्चरित मंत्रों को कानों से भली प्रकार सुनने पर ही संभव था, जो पुरोहित लिपिबद्ध मंत्रों का उच्चारण करते थे वह उनके लिये कोई प्रतिष्ठित बात नहीं मानी जाती थी। इस पर बल दिया जाता था कि लोग मंत्रों को पुराहित से सुनकर कन्ठस्थ कर लें। इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि नई रचना पहले लिपिबद्ध की जाती थी, बाद में उसे कन्ठस्थ कर लिया जाता था। कुछ विद्वानों का मत है कि प्रातिशाख्य जैसी प्रारंभिक रचनाएँ लेखन-कला के बिना संभव नहीं थी। भारतीय लिपि की प्राचीनता के संबंध में एक शंका यह भी की जाती है कि उसकी कोई प्राचीन सामग्री उपलब्ध नही होती। इसका उत्तर केवल यह है कि शिलालेखो, सिक्कों आदि की सामग्री तो काल के प्रहार को सहन कर सकी किन्तु भोजपत्र, वृक्षों का छाल, हाथ से बने कागज़ पर लिखी पुरानी सामग्री समय के आघात को न सह सकने के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो गई। बहुत सी पुरानी हस्तलिखित पोथियों को नष्ट होने से बचाने के लिये उन्हें बार-बार नये रूप में लिपिबद्ध किया जाता रहा। इसलिये वह बहुत प्राचीन नहीं जान पड़ते।

भारतीय ग्रंथों में लेखन-सामग्री के अनेक उल्लेख मिलते हैं। बौद्ध ग्रंथों में 'पण्ण' (पत्र) से ताड़पत्र की सूचना मिलती है। बौद्धों का त्रिपिटक सर्वप्रथम ताड़पत्रों पर लिखा बताया जाता है। प्राचीन ग्रंथ इसी प्रकार के पत्रों का संग्रह होता था जिसे गांठ या डोरी से छेद करके बांध दिया जाता था। भूर्ज (भोज) नामक वृक्ष की भीतरी छाल पर भी लिखने की प्रथा थी। इसे भोजपत्र कहा गया है। अल्ब-रूनी ने इसका उल्लेख किया है। कश्मीर, उड़ीसा आदि प्रदेशों मे इनका अधिक प्रयोग होता था। देशी कागज पर भी लिखने की प्रथा थी जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है किन्तु यह मंहगा होने के कारण कम प्रचलित था। लिखने के लिये लकड़ी के पतले पाटों का भी प्रयोग होता था। रेशमी कपड़ा, सूती कपड़ा, चमड़ा आदि भी

लिखने के काम में आते थे किन्तु ये सब सामग्रियाँ अधिक स्थायी न थीं इसलिये किसी बात को चिरस्थायी बनाने के लिये पत्थर का अधिक उपयोग होता था। इसीलिये अनेक पुराने लेख चट्टानों, स्तंभों, शिलाओं, आदि पर ही खुदे हुए मिलते हैं। संपूर्ण पुस्तकें चट्टानों में खुदा दी जाती थीं। सुवर्ण-पत्र, रजक-पत्र, तांब्र-पत्र, लोहे के स्तंभ आदि धातुओं का भी लिखने के लिये उपयोग होता था। स्याही भी अनेक प्रकार से बनाई जाती थी। अत: भारत में लिखने की परंपरा और लिखने की सामग्री से लिपि की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है।

अशोक के शिलालेखों में ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपियों के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं, इस बात का पहले उल्लेख किया जा चुका है। अशोक के भी पूर्व प्रचलित लिपि के उदाहरण सिक्कों तथा कुछ शिला-लेखों पर मिलते हैं। बस्ती ज़िले के पिप्रावा तथा अजमेर ज़िले के बड़ली नामक स्थानों में दो शिलालेख मिले है। बड़ली वाले शिलालेख पर 'वीराय भगवते चतुसिते वसे', अंकित है जिसका अर्थ है—भगवान महावीर के ८४ वें वर्ष में' इससे इसका समय ४८३ई० पू० स्पष्ट होता है। गोरखपुर ज़िले का सोहगौर ताम्रपत्र, बंगाल महास्थान शिलालेख आदि से भी लिपि की प्राचीनता स्पष्ट होती है। इधर मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई से भारतवर्ष में लिपि के प्रयोग की प्राचीनता ई० पूर्व हजारों वर्ष पहले की सिद्ध होती है। सिन्धु-घाटी की सभ्यता ४००० ई० पू० के लगभग आंकी गई है। इस प्रकार भारतवर्ष की लिपि मिस्र, मेसोपोटामिया आदि की लिपियों के सम-कक्ष ही पुरानी कही जा सकती है।

हड़प्पा, मोहनजोदड़ो की सभ्यता आर्येतर सभ्यता मानी गई है। इसका संबंध द्राविड़ तथा सुमेरी लोगों से जोड़ा गया है। इसलिये उपलब्ध लिपि भी द्राविड़ अथवा सुमेरी से संबंधित की गई है। पाश्-चात्य विद्वान-हेरस, सर जान मार्शल ने इसका संबंध द्राविड़ की तामिल लिपि से जोड़ा है। वैडेल, प्राणनाथ विद्यालंकार ने इसे सुमेरी से संबं-

धित किया है। किन्तु सुमेरी जाति के संबंध में कुछ विद्वानों का अनुमान है कि मेसोपोटामिया में यह बाहर से आई और इसमें लेखन-कला का प्रयोग होता था। अतः यह संभव है सुमेरियों ने भारत की सिन्धु-घाटी से इसे अपनाया हो। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इसी प्रकार मिस्र आदि देश में भी सिन्धु भाषा-भाषी लोगों के द्वारा वह उस देशों में गई हो। पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने सिंधु-घाटी की लिपि को एक मौलिक आविष्कार के रूप में स्वीकार किया है, इस संबंध मे डा० राजबली पांडेय का निष्कर्ष है कि संभवतः सिन्धुघाटी की लिपि के आधार पर ही भारतीय लिपि ब्राह्मी, सुमेरी, मिस्री आदि लिपियों को विकास हुआ। इस प्रकार भारतवर्ष में लेखन-कला की प्राचीनता हजारों वर्ष पहले की ज्ञात होती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है ब्राह्मी लिपि भारतवर्ष की प्राचीन लिपि है और इसे भारतीयों के मौलिक आविष्कार के रूप में स्वीकार किया जाता है। जो लोग इसे विदेशी स्रोत का बताते है वे भी इस बात से सहमत है कि प्राचीन काल में विदेशी व्यापारियो से यहा के लोगों ने लिपि का प्रयोग सीखा और उसमें आशातीत विकास कर लिया। ब्राह्मी को द्राविड़ स्रोत से सिद्ध करने वाले विद्वानो मे एडवर्ड थामस का नाम उल्लेखनीय है। इनके मतानुसार भारत मे आर्यों के विस्तार के पूर्व द्राविड़ सपूर्ण भारत में फैले थे और उनमे सास्कृतिक उपकरण आर्यो की अपेक्षा अधिक उन्नत रूप में थे। डा० राजबली पांडे तथा अन्य विद्वानों ने इस आधार पर उक्त मत का खंडन किया है कि द्रविड़ों के आधुनिक निवास-स्थान दक्षिण मे है किन्तु प्राचीन लिपि के उदाहरण उत्तर में मिले । साथ ही तामिल आदि लिपियों में आर्य वर्णमाला के केवल पहले और पांचवें वर्ण मिलते है अन्य नहीं मिलते। अतः एक अपूर्ण लिपि से पूर्ण लिपि का विकास संभव नही। डा० डेविड डिरिन्जर तथा अन्य विद्वानों ने कुछ तर्कों के आधार पर ब्राह्मी को भारतीय आविष्कार मानने में संदेह प्रकट किया है। सिन्धु-

घाटी की लिपि चित्रात्मक रूप का संकेत करती है। पर ब्राह्मी ध्वन्यात्मक लिपि है तथा चित्र-लिपि से वर्ण-लिपि का विकास संभव नही, साथ ही ब्राह्मी की प्राचीनता के यथेष्ट प्रमाण नही मिलते। डा० राजबली पाडे ने इन सदेहों का निराकरण करने का प्रयत्न किया है। सिन्धु-घाटी की लिपि का अभी तक पूर्णरूपेण कोई निर्णय नही हो सका है, किन्तु चित्र-लिपि से वर्ण-लिपि का विकास असंभव नहीं कहा जा सकता। सभी प्राचीन लिपियां मिस्री, फ़ोनीशी, चीनी आदि इसी ढंग से विकसित मानी गई है। लिपि की प्राचीनता के कई उल्लेख वैदिक वाङमय मे मिलते है जिनका निर्देश पहले हो चुका है। पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति की प्राचीनता ई०पूर्व की स्वीकार की है और यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पश्चिमी एशिया मे लिपि का विकास प्राचीन भारतीय लिपि के आधार पर हुआ और उसी प्राचीन भारतीय लिपि से ब्राह्मी का सबंध है।

जेम्स प्रिसेप, एमिल सेनार्ट, अफ़्रेड मूलर, जोजेफ हलेवी, विल्सन, आदि ने ब्राह्मी को ग्रीक लिपि से संबधित किया है किन्तु ग्रीक लिपि को फ़ोनीशी स्रोत से विकसित माना जाता है और फ़ोनीशी लिपि को वैदिक काल की 'पणि' जाति से संबंधित किया गया है। भारतीय प्राचीन लिपि यूनानियो और फ़ोनीशी लोगों के द्वारा अपने अपने देशों में फैलाई गई यही कहना अधिक युक्तिसगत ज न पड़ता है। वेबर, बेन्फी, जेन्सन, बूलर आदि विद्वानों ने ब्राह्मी के वर्णो की आकृतियां फ़ोनीशी से जोड़ी है। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है विद्वानों ने फ़ोनीशी जाति की समुद्री मार्ग के द्वारा पश्चिम में पूर्व से आया हुआ माना है। डा० राजबलो पाडे ने स्पष्ट किया है कि सामी और फ़ोनीशी वर्णों समानता न होने का कारण भी यही है। अतः फ़ोनीशी लिपि पश्चिम भूमध्य सागर के समीपवर्ती देशों में भारत से ही गई।

पहले कहा गया है कि कुछ विद्वानों ने उत्तर और दक्षिण सामी लिपियों से ब्राह्मी का संबंध जोडा है। डा० बूलर, डा० डेविड

डिरिन्जर ने इसका संबंध उत्तरी सामी से जोड़ा है । महामहोपाध्याय पं० गोरी शंकर हीराचंद ओझा ने डा० बूलर के निष्कर्षों का भली प्रकार से खंडन किया है। बूलर ने ब्राह्मी के २२ वर्णों की आकृतियाँ उत्तरी सामी से सिद्ध कीं और शेष का संबंध फोनीशी, असीरी आदि से बताया । ब्राह्मी के कुछ वर्णों को दायें से बांयें ओर लिखे रूप से भी इसकी पुष्टि की । डा० डिरिन्जर ने ब्राह्मी को उत्तरी सामी से संबंधित अरमी-स्रोत का सिद्ध करने का प्रयत्न किया । किन्तु भारतीय विद्वानों का मत इस संबंध में पहले दिया जा चुका है कि यदि फ़ोनीशी, सामी, ग्रीक आदि लिपियां वर्णात्मक है तो सिंधु-घाटी की प्राचीन लिपि में भी चित्रात्मक, अक्षरात्मक और वर्णात्मक रूपों के पर्याप्त लक्षण मिलते है । अत: यह कथन कि ब्राह्मी जैसी वर्णात्मक लिपि विदेशी वर्णात्मक लिपियों से ही विकसित हुई, युक्ति-संगत नही जान पड़ता ।

टेलर, डीके, कैनन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मी का सबध दक्षिणी सामी से जोड़ा है । किन्तु अरबों का भारत से कोई प्राचीन संबंध था इसके पर्याप्त प्रमाण नही मिलते । ब्राह्मी के वर्णो की आकृतिया सामी से नही मिलती । अत: इनमे सबंध-निर्धारण उपहासास्पद ही कहा जायेगा ।

ब्राह्मी एक पूर्ण और वैज्ञानिक लिपि है । इसमें वर्णो का संयोजन पूर्णतया ध्वन्यात्मक है। ह्रस्व स्वर, दीर्घ स्वर, अनुस्वार, उच्चारण-अवयवो के अनुसार स्वरों और व्यंजनों का विभाजन, संयुक्त व्यजन आदि के लिये व्यवहृत पृथक लिपि-चिह्न ब्राह्मी लिपि की श्रेष्ठता को सिद्ध करते है । प्राचीन विदेशो लिपियों में इस प्रकार की पूर्णता का अभाव मिलता है । सामी, ग्रीक आदि लिपियों मे वर्णो का न तो कोई क्रम है और न उनका विकास उच्चरित ध्वनियों के अनुसार ही मिलता है । ब्राह्मी लिपि की इसी पूर्णता और वैज्ञानिकता के कारण विद्वानों का यह निष्कर्ष है कि इस लिपि का विकास उच्च मष्तिष्क वाले पंडितों, ब्राह्मणों के द्वारा किया गया, प्राचीन वैदिक

साहित्य में भाषा-विज्ञान संबंधी सामग्री जो उपलब्ध होती है वह भी इसी बात की द्योतक है। डा० बूलर ने जहां ब्राह्मी का संबंध सामी से जोड़ने के लिए मनमाने ढंग से काम लिया है वहां उसने यह भी स्पष्ट किया है कि प्राचीन काल में भारतीय ब्राह्मणों के द्वारा ब्राह्मी का विकास संस्कृत भाषा को लिपिवद्ध करने के लिये किया गया। वस्तुतः ब्राह्मी लिपि का विकास शिक्षित-वर्ग के द्वारा ही किया गया। वह अर्धशिक्षित व्यापारी वर्ग का आविष्कार नहीं कहा जा सकता। म० म० पं० गौरी-शंकर हीराचंद ओझा ने इसकी प्राचीनता को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'भारतवर्ष के आर्यों की अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वांग सुन्दरता से चाहे साक्षर-समाज ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई हो......।' डा० तारापोरवाला ने ब्राह्मी लिपि को हैदराबाद की खुदाई में प्राचीन काल के बर्तनों पर अंकित अक्षरों से जोड़ा है। किन्तु अन्य भारतीय विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं क्योंकि ब्राह्मी और इसकी आकृति में बहुत कम समानता है।

जैन तथा बौद्ध ग्रंथों में भारतवर्ष की प्रचलित लिपियों के नाम मिलते हैं। जैन-ग्रंथ-पन्नवणासूत्र और समवायांग-सूत्र में ऐसी १८ लिपियों के नाम दिए गए हैं। इनमें बंभी (ब्राह्मी) प्रमुख लिपि भी मानी गई है। भगवती-सूत्र में ब्राह्मी लिपि को 'नमो बंभीये लिविये' रूप में नमस्कार किया गया है। बौद्ध ग्रंथ 'ललित विस्तर' में ६४ लिपियों का उल्लेख मिलता है जिनमें सर्वप्रथम स्थान ब्राह्मी को दिया गया है। ब्राह्मी के अतिरिक्त खरोष्ठी लिपि, अंगलिपि, बंगलिपि, मगध-लिपि, यवनानी लिपि, शकारि लिपि, द्राविड़ लिपि, दक्षिण लिपि, चीन-लिपि, हूणलिपि आदि के नामकरण प्रदेश और जाति के नाम पर रखे गये जान पड़ते हैं। किन्तु इनसे इतना तो स्पष्ट है कि भारतवर्ष में प्राचीन काल से ब्राह्मी सर्वमान्य लिपि थी। उपरोक्त ग्रंथों में मनुष्य-लिपि, अगुंलीय लिपि, ऊर्ध्वधनुलिपि, पुष्पलिपि, मृगचक्र लिपि,

चक्रलिपि, वज्रलिपि, विमिश्रित लिपि आदि से भारत की प्राचीन चित्रलिपि के संकेत मिलते हैं। विमिश्रित लिपि से चित्र, अक्षर तथा वर्ण लिपियों के समन्वित रूप का अनुमान किया गया है।

ऐसा जान पड़ता है कि प्राचीन भारतीय लिपियां कालान्तर में धीरे-धीरे समाप्त हो गईं और ब्राह्मी ही अशोक के समय में भारत-वर्ष की प्रधान लिपि रह गई थी। दक्षिण में प्राप्त भट्टिप्रोलु के स्तूप की लिपि, पिप्रावा और बड़ली में प्राप्त लेखों की लिपियां ब्राह्मी के प्राचीन रूप से संबंधित की गई हैं। जैसे प्राचीन ब्राह्मी (proto-Brahmi) का रूप अर्वाचीन ब्राह्मी से कुछ भिन्न था वैसे ही अशोक-कालीन ब्राह्मी लिपि भी पूर्ण सुरक्षित नही रही। लिपि के परिष्कार, सुधार आदि में प्रायः वही मनोभाव काम करते हैं जो भाषा के विकास में। अतः अर्वाचीन ब्राह्मी लिपि का विकास होना स्वाभाविक ही था।

विद्वानों का अनुमान है कि लगभग ३५० ई० से ब्राह्मी-लिपि दो स्रोतों में प्रवाहित होने लगती है। एक को उत्तरी शैली और दूसरे को दक्षिणी शैली के नाम से कहा जा सकता है। उत्तरी शैली के अन्तर्गत गुप्त लिपि, कुटिल लिपि, नागरी, शारदा, बंगला तथा दक्षिणी शैली की पश्चिमी, मध्यप्रदेशी, तेलगु, कन्नड़ी, ग्रंथ, कलिंग, तामिल, तामिल, वट्टेळुत्तु मुख्य लिपियां है।

गुप्त—वंश के राजाओं की संरक्षा में चौथी और पांचवी शताब्दी में ब्राह्मी लिपि का काफी विकास हुआ। उन्हीं के नाम से नई लिपि का कल्पित नाम' गुप्त-लिपि' रख लिया गया। गुप्त-वंश के राजकीय लेखों तथा मध्य-भारत के परिव्राजक, कुछ राजाओं के दानपत्र आदि में इसी लिपि का व्यवहार मिलता है। गुप्तलिपि के साथ-साथ राजपुताना, मध्य-भारत आदि क्षेत्रों में दक्षिणी शैली की पश्चिमी लिपि के उदाहरण भी मिलते हैं। इस लिपि में कुछ वर्णों की आकृतियाँ नागरी से मिलती हैं। इसमें मात्राओं के चिह्न नये रूप में बदल गये हैं। अ, क, ग, च, ड, ढ, व, द, प, भ, म, ल, ष के रूप नागरी से

कुछ समता रखते है। इस काल में वर्णो की शिरोरेखा का प्रयोग स्पष्ट रूप से मिलता है। वर्णो की आकृतियां प्राचीन लिपि की अपेक्षा क्रमशः विकसित जान पड़ती है।

'गुप्त-लिपि' का उत्तरोत्तर विकास 'कुटिल-लिपि' के रूप में माना जाता है। यह विकास छठी से नवीं शताब्दी के बीच हुआ। लिपि के लिये कुटिल शब्द की कल्पना उस काल में वर्णो की टेढ़ी आकृतियों के कारण की गई। कुटिल - अक्षर तथा कुटिल - लिपि के उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में मिलते हैं। इसी को 'विकटाक्षार' के नाम से भी कहा गया है। उस अवस्था में अक्षर की रेखाएँ नीचे की ओर बांई तरफ मुड़ी होती हैं और स्वरों की मात्राएं अधिक टेढ़ी-मेढ़ी और लम्बी होती है। इस में लिखे हुए अनेक लेख मिलते हैं। जैसे राजा यशोधर्मन् के लेख, राजा हर्ष के दानपत्र आदि, मगध के गुप्तवंशी आदित्यसेन, जीवितगुप्त (द्वितीय) के लेख, प्रतिहार राजाओं के लेख आदि। कुटिल लिपि के वर्ण नागरी लिपि के अधिक निकट है।

नागरी लिपि का समुचित विकास १०वीं शताब्दी से माना जा सकता है। नगर में रहने वालों लोगों या गुजरात के नागर ब्राह्मणों के नाम पर इस लिपि का नाम चल पड़ा। तब से लेकर आज तक नागरी लिपि का व्यापक व्यवहार होता आया है। १० वी शताब्दी में वर्तमान हिन्दी-क्षेत्र के अतिरिक्त अहिन्दी क्षेत्रों में भी इसका प्रयोग किया जाता था। इसी का कुछ परिवर्तित रूप बंगला लिपि के नाम से कहलाया। नागरी के सदृश ब्राह्मी से ही शारदा लिपि का विकास पंजाब और कश्मीर में हुआ। दक्षिण तथा गुजरात में राष्टकूट (राठौर) राजाओं के दानपत्रों, चालुक्य राजाओं एवं विजयनगर राज्य के शिलालेखों तथा दानपत्रों में नागरी के एक रूप नंदि-नागरी का प्रयोग मिलता है। उत्तर भारत में कन्नौज, मेवाड़, अजमेर, आबू, मालवा, ग्वालियर आदि राज्यों के द्वारा देवनागरी लिपि का प्रयोग किया जाता था। उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण में नागरी

लिपि का प्रयोग पहले हुआ। वहां ८वीं शताब्दी के लेखों में यह रूप मिलता है। प्राचीन नागरी लिपि का भी उत्तरोत्तर विकास मिलता है। १० वीं शताब्दी में कुछ वर्ण अ, आ, घ, म, प, य, ष, स की शिरोरेखा दो भागों में विभक्त थी किन्तु ११ वीं शताब्दी से ये दोनों भाग एक में मिले हुए पाये जाते हैं। वर्णों की आकृतियां भी कुछ सुडौल हो गई। शिरोरेखा वर्णों की आकृति के अनुसार प्रयुक्त होने लगी। १८ वीं शताब्दी की नागरी लिपि का प्राय: स्वरूप वर्तमान के सदृश पूर्ण विकसित हो गया था केवल कुछ मात्राओं में ही अन्तर पाया जाता है तथा ए, ऐ, ओ, औ की मात्राएं भी १५ वीं, १६ वीं शताब्दियों के लगभग वर्तमान नागरी लिपि समान ही व्यवहृत होने लगती हैं। नागरी लिपि के वर्णों में प्रादेशिक भेद के कारण भिन्नता मिलना स्वाभाविक है। हिन्दी की तीन सौ अथवा चार सौ वर्षों का प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में नागरी के वर्णों के कुछ विचित्र प्रयोग मिलते हैं। इनका उत्तरोत्तर विकास मिलता है। इनमें 'ख' के लिये प्राय: 'ष' तथा 'ष' के लिये 'श' चिह्नों का प्रयोग अधिकांशत: पाया जाता है। नागरी, मराठी, गुजराती, कैथी, महाजनी लिपियों में काफी समानता है।

गुजराती लिपि

इस लिपि का प्रचार वर्तमान बम्बई प्रदेश (गुजरात, काठियावाड़, कच्छ) में पाया जाता है। काठियावाड़ की भिन्न लिपि हालारी, और कच्छ की कच्छी है किन्तु इन क्षेत्रों में गुजराती का व्यापक प्रयोग होता है। जैसा कि पहले कहा गया है इसका उद्गम नागरी से माना जाता है। अ, इ, ख, च, ज, झ, फ, व वर्णों की आकृतियाँ शीघ्रता से लिखी जाने के कारण नागरी से भिन्न हो गई हैं। इस लिपि में शिरोरेखा का प्रयोग अब नहीं किया जाता। प्राचीन स्थिति में शिरोरेखा का प्रयोग होता था परन्तु सरलता के कारण इसको धीरे धीरे समाप्त कर दिया गया। इसमें कतिपय वर्णों की आकृतियां नागरी से भिन्न हैं।

मोड़ी लिपि

इस लिपि का विकास शिवा जी के समय से बताया जाता है। शिवा जी ने नागरी को राजकीय लिपि बनाया किन्तु इसमें त्वरा-लेखन के लिये उनके मंत्री बालाजी अवाजी ने इसके वर्णों को तोड़-मोड़ कर एक लिपि बना दी जिसके कारण इसका उक्त नाम पड़ गया। पेशवा राज्यकाल में इसे कुछ और सुधारा गया। इसमें कुछ वर्ण गुजराती तथा तेलगु-कनड़ी से मिलते हैं। अ, आ, उ, क, च, ञ, फ, य, ल, व, स, ह की आकृतियाँ नागरी से भिन्न हैं। शेष वर्ण प्रायः नागरी के सदृश हैं। इसी के आधार पर वर्तमान मराठी लिपि का विकास हुआ है। शैली और काल-भेद से वर्णों की आकृतियों में कुछ अन्तर होना स्वाभाविक है। नागरी-लिपि को देवनागरी लिपि भी कहा जाता है। इसका आधार देवताओं की उपासना के लिये बने 'देवनागर' यंत्र माना गया है। ये यंत्र नागरी के वर्णों से मिलते-जुलते थे इसलिये 'नागरी' लिपि के लिए 'देवनागरी' शब्द का प्रयोग होने लगा। नागरी लिपि का एक रूप कैथी-लिपि है।

कैथी-लिपि

यह नागरी लिपि का परिवर्तित रूप है। इसे शीघ्र लिखी जाने वाली लिपि कहा जाता है। इसमें ऋ, ङ, ञ, व आदि वर्णों के लिये कोई लिपि-चिह्न नही है। 'व' के नीचे एक विन्दु से' 'व' का रूप प्रकट किया जाता है। कायस्थ जाति के द्वारा प्रयोग में लाई जाने के कारण इस लिपि का उक्त नाम प्रचलित हो गया। इसे सुविधाजन्य बनाने की दृष्टि से शिरोरेखा का प्रयोग नहीं किया जाता। इस लिपि में स्थान-भेद के कारण शैलो-भेद भी मिलता है। मिथिला, मगध तथा भोजपुर-क्षेत्र की कैथी लिपियों में थोड़ी भिन्नता मिलती है। बिहार-प्रदेश में उक्त लिपि का अधिक प्रयोग होता है।

बंगला-लिपि

जैसा कि पहले कहा गया है प्राचीन बंगला लिपि नागरी से ही

उद्भूत मानी गई है। भारत के पूर्वी क्षेत्र-विहार, बंगाल, मिथिला, नैपाल, असाम, उड़ीसा में नागरी के आधार पर ही लिपि का विकास किया गया। ११वीं शताब्दी से पालवंश के राजाओं के लेखों तथा असाम में उपलब्ध कुछ दानपत्रों में नागरी लिपि का झुकाव बंगला लिपि के सदृश मिलने लगता है। वर्णों में अ, इ, ई, ऋ, ए, ऐ, ख, घ, झ, ञ, ट, थ, प, फ, र, श, ष की आकृतियां नागरी से भिन्न प्रतीत होने लगती हैं। प्राचीन बँगला लिपि के आधार पर वर्तमान नैपाली, मैथिली, असामी, उड़िया, वर्तमान बंगला लिपियों का विकास सिद्ध होता है।

मैथिल-लिपि

यह बंगला लिपि का परिवर्तित रूप है। मिथिला के ब्राह्मणों की लिपि होने के कारण इसका उक्त नाम पड़ गया। मैथिली भाषा के प्राचीन ग्रन्थ इसी लिपि में लिखे मिलते हैं। मैथिल-लिपि के वर्ण प्राय: बंगला लिपि के सदृश ही होते हैं, केवल कुछ वर्णों की आकृतियों में भिन्नता मिलती है।

उड़िया-लिपि

यह प्राचीन बंगला लिपि से विकसित मानी जाती है। शिरोरेखा के वृत्ताकार होने के कारण इसके वर्ण कुछ विचित्र से जान पड़ते हैं। किन्तु शिरोरेखाविहीन वर्णों की आकृतियाँ सरल और बंगला के सदृश जान पड़ती हैं। स्वरों के लिपि-चिह्न बंगला से मिलते हैं। उड्-प्रदेश की प्रचलित लिपि होने के कारण इसका उक्त नाम पड़ गया।

शारदा-लिपि

इस लिपि का विकास कुटिल लिपि के आधार पर हुआ। अतएव इसका नागरी लिपि से बहनवत् संबंध जोड़ा जा सकता है। पहले कहा ही गया है कि सर्वप्रथम इसका प्रचार कश्मीर और पंजाब में मिलता है। सबसे पुराना लेख १० वीं शताब्दी का चंबा राज्य की एक प्रशस्ति ठीक माना जाता है। सर्वप्रथम इस लिपि का अन्वेषण प्रसिद्ध पुरातत्व-

वेत्ता डा० फ़ोजल ने १९११ ई० में किया। इसी प्राचीन लिपि से वर्तमान कश्मीरी, टाकरी, गुरुमुखी लिपियों का विकास माना जाता है। कश्मीर की अधिष्ठात्री देवी शारदा मानी गई हैं। संभवतः इसी कारण शारदा-प्रदेश की लिपि शारदा कहलाई।

टाकरी-लिपि

यह शारदा लिपि का शार्ट-हैंड का रूप कहा जा सकता है। इसमें 'ख' को 'ष' रूप में लिखा जाता है। जंबू तथा शिमला को छोड़कर पंजाब के समस्त उत्तरी पहाड़ी प्रदेश में इसका प्रचार मिलता है। जंबू में इसे डोगरी और चंबा में चमिआली कहा जाता है। म० म० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने राजपूत ठाकुरों के आधार पर ठाकुरी (ठक्कुरी) अथवा ठांक जाति के व्यापारियों की लिपि होने के कारण उक्त लिपि के नाम की कल्पना की है। व्यवसायी वर्ग की लिपि घसीट होती भी है। अतः इसका संबंध टांक जाति से अधिक संभव जान पड़ता है।

गुरुमुखी-लिपि

पंजाब में लंडा' नाम की महाजनी लिपि का प्रचार था और अनुमान है कि सिक्ख-धर्म के ग्रंथ उसी में लिखे जाते थे किन्तु अपूर्ण लिपि होने के कारण गुरु अंगद ने लगभग १६ वीं शताब्दी के मध्य में उस लिपि को स्वर आदि की मात्राओं से पूर्ण बनाया और संभवतः गुरु के मुख से निकले वचन को लिपिवद्ध करने में पूर्ण होने के कारण यह उक्त नाम से प्रचलित हो गई। सिक्ख-धर्म के ग्रंथ इसी लिपि में उपलब्ध होते हैं। इस लिपि के अनेक वर्णों की आकृतियाँ शारदा-लिपि से मिलती हैं। दक्षिण-शैली की लिपियों को भी प्राचीन ब्राह्मी से संबंधित किया गया है। यह लिपियाँ क्षत्रप तथा आंध्रवंशी राजाओं के लेखों में मिलती हैं। इस शैली की प्रसिद्ध लिपियाँ निम्नलिखित हैं :—

पश्चिमी-लिपि

पुराने गुजरात, काठियावाड़, नासिक, खानदेश तथा सितारा जिलों,

हैदराबाद, (आन्ध्र) कोंकण, मैसूर के पुराने राज्यों, राजस्थान, मध्य-प्रदेश के कुछ भागों में इस लिपि के नमूने शिलालेखों, दानपत्रों के रूपों में उपलब्ध हुए हैं। ये लेख ५वीं शताब्दी से ९वीं शताब्दी तक के हैं। उत्तर-शैली की लिपियों का इस पर काफी प्रभाव मिलता है। संभवतः भारत के पश्चिमी भाग में इसका प्रयोग होने के कारण उक्त नाम प्रचलित हो गया।

मध्यदेशी-लिपि

इसका प्रचार पुराने मध्य-प्रदेश, हैदराबाद (आन्ध्र)का उत्तरी भाग मैसूर राज्य, तथा बुंदेलखंड के कुछ भागों में पांचवीं शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक मिलती है। यह अनेक राजाओं के शिलालेखों तथा दान-पत्रों मं पाई गई है। दानपत्र विस्तृत और शिलालेख अपेक्षाकृत छोटे आकार में पाये जाते हैं। इस लिपि में वर्णों के सिर चौकोर अथवा संदूक की आकृति के होते हैं। वर्णों की बनावट में आड़ी और खड़ी रेखाओं का प्रयोग हुआ है जिसे समकोणवाली आकृति का कहा गया है। इस कारण इसके वर्ण कुछ विलक्षण जान पड़ते है। इस पर उत्तरी शैली का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। संभवतः मध्यदेश में प्रचलित होने के कारण इसका उक्त नाम पड़ गया।

तेलगु-कनड़ी लिपि

यह बंबई तथा वर्तमान आन्ध्र-प्रदेश के दक्खिनी भागों, मैसूर, मद्रास के उत्तरी-पूर्वी भाग विजगापट्टम, कर्नूल, विलारी, कड्डप्पा, नेल्लोर आदि जिलों में पांचवीं शताब्दी से मिलती है। इस लिपि का उत्तरोत्तर विकास होता गया और १४वीं शताब्दी के लगभग वर्तमान तेलगु तथा कनड़ी लिपियों के यह बहुत निकट हो गई। इसी के परि-वर्तित रूप से तेलगु-कनड़ी लिपियां बनीं। तेलगु की उत्पत्ति त्रिलिंग (तिलिंगाना) प्रदेश और कन्नड़ की प्राचीन कर्णाट प्रदेश से सिद्ध की गई है। संभवतः इसीलिये इसका उक्त नाम प्रचलित हो गया। यह लिपि पल्लव, कदंब, चालुक्य, राष्ट्रकूट, गंगावंशी, काकाती आदि राज-

वंशों के अनेक शिलालेखों तथा दानपत्रों में प्राप्त होती है। इन लेखों की संख्या हजारों तक आंकी गई है। इस लिपि के वर्णों की आकृतियां भी कुछ लेखों में मध्यदेशी की भांति चौकोर मिलती हैं।

ग्रन्थ-लिपि

यह मद्रास के उत्तरी तथा दक्षिण भागों-सलेम, त्रिचिनापली, मदुरा, तिन्नेवेल्लि ज़िलों एवं वर्तमान केरल-प्रदेश में ७वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक मिलती है। वर्तमान ग्रंथ-लिपि प्राचीन लिपि का विकसित रूप है। इसके आधार पर ही वर्तमान केरल और तुळु भाषा की लिपियों का विकास हुआ है जिनका व्यवहार संस्कृत ग्रंथों के लिखने में किया जाता है। तामिल भाषा की लिपि अपूर्ण होने के कारण संस्कृत-ग्रंथों के लिये उपयुक्त न थी, अत: उक्त लिपि में ही संस्कृत भाषा के ग्रंथ लिखे गये। संभवत: इसी कारण इसका 'ग्रन्थ' नाम पड़ गया। यह लिपि पल्लव, चोल, यादव वंशी राजाओं के शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों में प्राप्त होती है। इसके वर्णों के बीच-बीच में ग्रन्थियाँ भी लगी मिलती हैं और आकृतियाँ गोलाई लिये हुए होती हैं।

कलिंग-लिपि

यह मद्रास के चिकाकोल तथा गंजाम के बीच प्रदेश में, कलिंग-नगर के गंगावंशी राजाओं के दानपत्रों में सातवीं शताब्दी से लेकर ११वीं शताब्दी तक मिलती है। कुछ ताम्रपत्र भी उपलब्ध हुए हैं। कुछ दानपत्रों की लिपि मध्यप्रदेशी की भाँति चौकोर आकृतिवाली तथा ताम्रपत्रों की लिपि ग्रन्थ और नागरी लिपि के मिश्रित रूप में गोलाईदार मिलती हैं। इसकी आकृतियाँ तेलगु-कनड़ी से भी कुछ मिलती हुई हैं। यह लिपि उत्तर और दक्षिण की लिपियों के मिश्रण से बनी कही जा सकती हैं। पुरातत्ववेत्ता डा० कीलपर्न्न ने इस लिपि के लगभग ७३० अक्षरों में से ३२० नागरी और ४१० दक्षिणी लिपियों का स्वीकार किया है।

तामिल-लिपि

यह मद्रास के उन भागों में जहाँ प्राचीन ग्रन्थ-लिपि का प्रचार था

तथा उसके पश्चिमी तट मलाबार प्रदेश की तामिल भाषा में पल्लव, चोल, राष्ट्रकूट आदि राजवशां के शिलालेखों एवं दानपत्रों में मिलती है। इसके नमूने सातवीं शताब्दी से उपलब्ध होते हैं। इसके वर्ण ग्रन्थ-लिपि से प्रायः मिलते हैं। इसी के आधार पर १४वीं शताब्दी के लगभग वर्तमान तामिल लिपि बनी। संभवतः इसलिये यह लिपि उक्त नाम से प्रचलित हो गई। तामिल लिपि में ख्, ग्, घ्, छ्, ज्, झ्, ठ्, ड्, ढ्, थ्, द्, ध्, फ्, ब्, भ्, श् आदि वर्णों के लिये लिपि-चिह्न नहीं हैं। इसमें कुल १८ व्यंजनों के लिये चिह्न है जिनमें ळ, ऴ ऱ, ऩ विशेष व्यंजन हैं। इस प्रकार वर्णों की कुछ आकृतिया ग्रथलिपि से मिलती हैं।

वट्टेळुत्तु लिपि

यह तामिल लिपि का ही एक भेद है। इसे तामिल का शार्टहैंड-रूप कहा जा सकता है। इसके लेख मद्रास के पश्चिमी तथा दक्खिनी भागों में ७वीं शताब्दी से १४वी शताब्दी तक मिलते हैं। यह चोल, पांड्य आदि राजवंशों के शिलालेखों तथा दानपत्रों में प्राप्त होती है। अब इसका व्यवहार नहीं पाया जाता।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतवर्ष की प्राचीन तथा अर्वाचीन लिपियों का संबंध ब्राह्मी लिपि से है। यह अवश्य है कि अपने वर्तमान रूप में ये लिपियाँ एक दूसरे से काफी भिन्न जान पड़ती हैं। लिपियों में यह भिन्नता उनके उत्तरोतर विकास में वातावरण तथा लोगों की विभिन्न मनोवृत्ति के फलस्वरूप है। यह अन्तर काल-भेद और स्थान-भेद के कारण है। व्यक्ति अथवा जाति के द्वारा रुचि के अनुसार वर्णों की आकृतियों में परिवर्तन हो जाना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। लिपि के वर्णों को शीघ्रता में लिखने, उनकी आकृतियों को सुंदर, सुडौल बनाने, उनपर शिरोरेखा लगाने के विविध ढंगों के कारण मूल लिपि के भेदों में बराबर परिवर्तन होते रहे हैं। भाषा के विकास के सदृश ही लिपि-विकास में भी मनुष्य की प्रयत्न-लाघव की वृत्ति निरंतर योग देती रही है। घसीट लिखने, बिना कलम उठाये वर्णों को लिखते

रहने, कम से कम समय में वर्णों को सुडौल बनाने की भावनायें इसी से प्रेरित हैं। त्वरालिपि अथवा शार्टहैंड सदृश लिपि-विकास के मूल में यही मनोवृत्ति रही है।

मनुष्य में रुचि-वैचित्र्य स्वाभाविक है। एक ही लिपि का व्यवहार करने वाले अपने-अपने वर्णों को भिन्न भिन्न प्रकार से सजाकर और घसीट कर लिखते हैं। इस सजावट के कारण लिपियों के वर्ण नये नये रूप धारण करते जाते हैं। आज मुद्रण और टाइप का युग है। मुद्रण और टाइप की सरलता के लिये भी वर्ण-चिह्नों में कई मनमाने परिवर्तन कर लिये गये हैं। किन्तु यह सब होते हुए भी भारतीय लिपियों में विशेष रूप से उत्तर भारत की लिपियों में स्पष्टता, निश्चयात्मकता, वैज्ञानिकता के गुण वर्तमान मिलते हैं। देवनागरी लिपि इन सब में प्रमुख है। सबसे मुख्य विशेषता इसमें यह है कि जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है, यह नहीं कि लिखा जाय कुछ और पढ़ा जाय कुछ, जैसा रोमन या अन्य उर्दू आदि लिपियों में होता है। अन्य भारतीय लिपियों में भी देवनागरी के वर्ण अधिक सरल और सीधे हैं इसलिये भारत के व्यापक क्षेत्रों में इस लिपि का व्यवहार प्राचीन काल से होता रहा है।

'एक ध्वनि के लिये एक ही लिपि-चिह्न' हो, यह वैज्ञानिक लिपि की मुख्य विशेषता कही जा सकती है। दक्षिण की कुछ लिपियों को छोड़कर भारत की प्रायः सभी लिपियों में यह विशेषता उपलब्ध होती है। नागरी में यह गुण सबसे अधिक है, यह कहा जा सकता है। देवनागरी में प्रायः सभी ध्वनियों के लिये लिपि-चिह्न पाये जाते हैं। अन्य विदेशी भाषा-भाषी लोगों के संपर्क से कुछ नई ध्वनियों का आगम भारतीय भाषाओं में हो गया है उनके लिये निश्चित लिपि-चिह्नों का व्यवहार नहीं पाया जाता।

जब से भारत स्वतन्त्र हुआ राष्ट्रभाषा और राष्ट्र-लिपि का प्रश्न व्यापक हो गया। सर्वप्रथम उत्तरप्रदेशीय सरकार ने ८ अक्टूबर, सन् १९४७ में हिन्दी को प्रादेशिक भाषा और देवनागरी को प्रादेशिक लिपि

के रूप में स्वीकार किया। तभी उत्तरप्रदेशीय सरकार ने आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में एक लिपि-सुधार-समिति की आयोजना की। बम्बई की प्रादेशिक सरकार तथा केन्द्रीय सरकार ने भी लिपि समितियों का आयोजनाएं कीं। कालान्तर में हिन्दी को भारत की राष्ट्र भाषा और देवनागरी को राष्ट्र-लिपि घोषित कर दिया गया। भारतवर्ष में देवनागरी के अतिरिक्त उर्दू (फ़ारसी-अरबी) तथा रोमन लिपियों का भी व्यवहार किया जाता है। उर्दू लिपि का पहले उल्लेख हो चुका है। यह भारत की प्राचीन लिपि से संबंधित नहीं है। वह अपूर्ण लिपि है जिसमें भाषा की प्रत्येक ध्वनि को लिपिबद्ध करने की क्षमता नहीं है। अतः भारत की आर्य भाषाओं के लिये उर्दू लिपि अनुपयोगी सिद्ध होती है। राष्ट्रलिपि के लिये प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी डा० सुनीतिकुमार चटर्जी रोमन लिपि के प्रस्तावक रहे हैं। रोमन लिपि भारतीय लिपियों के सदृश बायें से दायें ओर लिखी जाती है। उर्दू के समान यह भी एक अपूर्ण लिपि है इसलिये डा० चटर्जी उसके सूचक-चिह्नों (diacritical marks) से समन्वित रूप को नागरी लिपि की अपेक्षा अधिक सहज और व्यापक मानते हैं। उनकी दृष्टि में नागरी लिपि संयुक्ताक्षरों, संयुक्त व्यंजनों तथा मात्राओं के कारण बहुत सरल और स्पष्ट नहीं है। अतः रोमन वर्ण-चिह्नों में थोड़ा परिवर्तन करके उन्हें भारतीय भाषा की ध्वनियों को लिपिवद्ध करने के योग्य बनाया जा सकता है। इसे उन्होंने इन्डो-रोमन (Indo-Roman) की संज्ञा दी है क्योंकि इसमें वर्णचिह्न रोमन के और ध्वनियों के क्रम भारतीय भाषा के सदृश होंगे। किन्तु रोमन लिपिचिह्न भारतीय परंपरा और इतिहास से कोई मेल नहीं रखते। नागरी लिपि अन्य भारतीय लिपियों के अधिक निकट थी। अतः बहुजनमत के फलस्वरूप देवनागरी लिपि को ही राष्ट्रलिपि घोषित किया जाना युक्तिसंगत था। तदनन्तर उत्तर-प्रदेशीय सरकार द्वारा भारत के मुख्य मंत्रियों, विद्वानों, भाषाविदों आदि का एक देवनागरी लिपि-सुधार सम्मेलन का आयोजन डा० सर्वपल्ली

राधाकृष्णन की अध्यक्षता में २८ नवम्बर, १९५३ ई० को लखनऊ में किया गया।

देवनागरी लिपि को अधिक व्यापक, व्यावहारिक और निश्चयात्मक बनाने के लिये उपरोक्त समितियों तथा सम्मेलन में काफी विचार-विमर्श हुआ। देवनागरी लिपि में कुछ ऐसे वर्ण-चिन्हों का प्रयोग होता है जो भिन्न-भिन्न लिपि के हैं। जैसे अ, झ, ण, छ, ह आदि। संयुक्ताक्षरों को लिखने में एकरूपता नहीं पाई जाती। कोई उसे ऊपर-नीचे और कोई उसे आमने-सामने करके लिखता है। इसी प्रकार अर्धव्यंजनों के प्रयोग में भी एकरूपता नहीं मिलती। कोई हल-चिह्न लगा कर और कोई उसे आधा करके प्रयोग करता है। जैसे चर्‌खा, चर्खा, कट्‌टर, कट्टर, चक्कर, चक्‌कर, चक्कर आदि।

अनुस्वार और अर्धानुनासिक व्यंजनों के प्रयोग में भी भिन्नता पाई जाती है। प्रायः दोनों रूपों को शिरोरेखा पर एक विन्दु रखकर दिखाया जाता है। जैसे चंचल, चंवर आदि। दोनों भिन्न ध्वनियाँ हैं इसलिये इनके लिये पृथक पृथक ध्वनि-चिह्नों का प्रयोग होना चाहिए। कई लोग अनुस्वार को चन्द्रविन्दु और अर्ध-अनुनासिक व्यंजन को अर्ध-रूप में प्रयोग करते पाये जाते हैं। जैसे चञ्चल, चँवर। इस प्रकार इनके प्रयोग में कोई एकरूपता नहीं मिलती। कुछ विद्वानों का मत है कि ञ, ण अनुनासिक व्यंजन शुद्ध रूप में उच्चरित नहीं होते इसलिये अर्ध ञ् या अर्ध ण् का प्रयोग वैज्ञानिक नहीं कहा जायेगा। कुछ वर्णों में अस्पष्टता है। जैसे ख, र, ष, ध, भ, म में जरा सी असावधानी से भ्रम हो सकता है।

अतएव देवनागरी लिपि के उपर्युक्त चिह्नों में एकरूपता लाने के के लिये कुछ सुधार आवश्यक था तथा उसे अधिक व्यावहारिक बनाने के लिये यह आवश्यक समझा गया तथा मुद्रण, टाइप आदि की सुविधा के लिये भी कुछ सुधार वांछनीय था। देवनागरी लिपि में मात्राएं वर्णों के दायें-बाँये, ऊपर-नीचे लगती हैं। इस रूप में हिन्दी-मुद्रण के

लिए लगभग ७०० टाइप (मुद्रा) की आवश्यकता होती है जिसमें अधिक समय और परिश्रम व्यय होता है। इसमें रोमन लिपि की भांति मुद्रण में वह सुविधा और सरलता नहीं है। अतः देवनागरी लिपि की मात्राओं में कुछ सुधार का अनुभव बहुत पहले से किया जाता रहा है। मोनोटाइप, लाइनोटाइप, टेलीप्रिंटर का अन्वेषण किया गया। इसी प्रकार अँग्रेजी टाइपराइटर की अपेक्षा हिन्दी टाइपराइटर काफी अपूर्ण समझा जाता है। उसमें कई लिपि-चिह्नों का विधान नहीं है। कई वर्ण दोषपूर्ण और अव्यावहारिक भी हैं। देवनागरी लिपि शीघ्रता से लिखी जा सके, उसमें कोई गतिरोध न हो इस संबंध में कुछ विद्वानों का मत था कि नागरी स्वरों और व्यंजनों को एक समान लिखा जाय, कुछ इस मत के हैं कि वर्णों में यदि शिरोरेखा का प्रयोग न किया जाय तो देवनागरी लिपि में त्वरालेखन की विशेषता आ जायेगी।

अतएव उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि देवनागरी लिपि में कुछ सुधार वांछनीय थे और उक्त समितियों तथा सम्मेलन ने देव-नागरी-लिपि में इसलिये कई आवश्यक सुधार प्रस्तावित किये। श्री राजगोपालाचार्य, पं० रविशंकर शुक्ल आदि विद्वान केवल यांत्रिक सुविधाओं के लिये लिपि-चिह्नों के परिवर्तन के पक्ष में नहीं थे। किसी भी भाषा की लिपि में उसके प्राचीन साहित्य की महत्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित रहती है और उस लिपि के प्रयोग की प्राचीन परंपरा होती है। अतः उसमें कोई आमूल परिवर्तन अवांछनीय ही कहा जायेगा। इन लिपि-चिह्नों का विकास सैकड़ों वर्षों में अपनी स्वाभाविक गति से होता आया है और उसमें अस्वाभाविक ढंग से कोई परिवर्तन करना उसे अव्यावहारिक बनाना होगा।

नागरी प्रचारिणी सभा काशी, का एक प्रस्ताव इसी प्रकार का था। जैसे अ् (अ), अ (आ), अि (इ), अी (ई) आदि अर्थात् 'अ' के लिये व्यवहृत लिपि-चिह्न के सदृश ही अन्य स्वरों के चिह्न भी हों किन्तु स्वरों का भिन्न-भिन्न उच्चारण होता है, उनके ह्रस्व, दीर्घ

रूपों में कुछ समानता अवश्य है किन्तु सभी स्वर कए जैसे हैं, यह कहना गलत होगा। अतः अ, आ, इ, ई, उ, ऊ आदि लिपि-चिह्नों के विभिन्न रूपों का विकास बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से हुआ है। केवल एकरूपता लाने के लिये इन लिपि-चिह्नों की वैज्ञानिकता को नष्ट कर देना किसी प्रकार भी समीचीन नहीं कहा जायेगा। इसी प्रकार व्यंजनों की एक-रूपता का प्रस्ताव किया गया। जैसे ना (क), नh (ख), ग (ग), गh (घ), ग (ङ), च (च), चh (छ), ज (ज), जh (झ), ज (ञ), प, फ, ब, बh (भ)। इसमें संदेह नहीं, क, ख, ग, घ, छ, च, झ आदि व्यंजनों में उच्चारण की कुछ समानता है। एक अल्पप्राण है और दूसरा महाप्राण है। वर्तमान देवनागरी के प, फ, ट, ठ में यह समानता कुछ दृष्टिगत होती है किन्तु व्यंजनों के लिपि-चिह्नों में अकारण उक्त परिवर्तन प्राचीन परंपरा को नष्ट ही करता है। साथ ही इसनें टाइप आदि की सुविधा बढ़ने की अपेक्षा घट जाती है।

हिन्दी-साहित्य सम्मेलन ने भी स्वरों में एकरूपता लाने का प्रस्ताव किया था कि केवल 'अ' के लिपि-चिह्न में विभिन्न मात्राओं का प्रयोग किया जाय और अन्य स्वरों के विभिन्न लिपि-चिह्नों का प्रयोग न किया जाय। जैसे अ, आ, अि, अी आदि। बहुत काल तक काका कालेलकर का भी यही मत रहा है किन्तु इस एकरूपता से स्वरों के वैज्ञानिक रूप का हनन होता है, यह पहले कहा जा चुका है। इ, उ, ए स्वर 'अ' से भिन्न स्वर हैं। किन्तु, नागरी प्रचारिणी सभा, तथा सम्मेलन के अनेक सुझाव काफी उपादेय और महत्वपूर्ण थे। जैसे अनुस्वार और अनु-नासिक में भेद, अर्ध व्यंजनों, संयुक्ताक्षर के प्रयोग में एकरूपता लाना आदि। व्यक्तिगत रूप में डा० पन्नालाल तथा डा० गोरखप्रसाद के कुछ सुझाव भी महत्वपूर्ण प्रमाणित हुए। डा० पन्नालाल का प्रस्ताव था कि मात्राएँ वर्णों के दांई ओर लगाई जायें। केवल ह्रस्व 'इ' बांई ओर लगती है, उसे भी दांई ओर इस प्रकार लगाया जाय—यथा-की। डा० गोरख प्रसाद का प्रस्ताव था कि मात्राओं को प्रयुक्त वर्णों के दांई ओर

ऊपर-नीचे न लगाकर उनसे थोड़ा हटाकर लगाना चाहिये। इससे मुद्रण और टाइप में बहुत बड़ी सुविधा हो जायेगी क्योंकि अभी मात्रा-युक्त, मात्राविहीन तथा मात्राओं के लिये अलग-अलग टाइप होते है और इनकी संख्या लगभग ७०० की अपेक्षा १५० से ही रह जायेगी।

अतएव आचाय नरेन्द्रदेव की समिति ने देवनागरी लिपि-सुधार के लिये उपरोक्त सुझावों को बहुत कुछ स्वीकार कर लिया और वे अत्यल्प परिवर्तन के साथ मुख्य मत्रियो के लखनऊ-सम्मेलन में भी स्वीकार कर लिये गये। सुधार की रूप-रेखा इस प्रकार है :—

(१) वर्णो में शिरोरेखा का प्रयोग किया जाय।

(२) अनुनासिक स्वर के लिये शिरोरेखा पर विन्दु का प्रयोग हो और अर्ध-अनुनासिक व्यंजन ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, के लिये शिरोरेखा पर शून्य (०) चिह्न का व्यवहार किया जाय।

(३) पाई वाले वर्णो की पाई हटाकर उनका अर्ध-रूप बना लिया जाय और जिन वर्णो के अन्त में पाई नहीं है उनमें हल्चिह्न लगाकर अर्ध-रूप बनाया जाय। इनमें क और फ को अपवाद रखा गया है। जैसे क और फ-क्, फ् और अन्य जैसे ट्, ठ्, ड्, ढ्, ह् आदि

(४) प्रचलित व्यंजनों में ग्र, छ, झ, ण, ध, भ, ल, ह के स्थान पर क्रमशः अ, छ, झ, ण, ध, भ, ल, ह व्यजनो का प्रयोग किया जाय।

(५) 'ख' व्यंजन को इस रूप में 'ख' लिखा जाय और 'र' व्यजन को ज्यों का त्यों रहने दिया जाय।

(६) विशेष व्यंजन 'ळ' का प्रयोग किया जाय।

(७) नई ध्वनियों के लिये उच्चारण-चिन्हों (diacritical marks) का व्यवहार किया जाय।

(८) ह्रस्व 'इ' की मात्रा दाहिनी ओर इस प्रकार लगाई जाय— जसे व॑जय (विजय)।

(९) मुद्रण तथा टाइप आदि के सुविधा के लिये मात्राओं को थोड़ा हटाकर आगे लगाया जाय। जैसे संपूर्ण = संप ू र्ण

(१०) प्रचलित संयुक्त व्यंजन त्र, द्य, को त्र, द्‌य रूप में लिखा जाय तथा क्ष, ज्ञ के रूप सुरक्षित रहें।

उपरोक्त सुधारों से यह स्पष्ट है कि प्रचलित देवनागरी लिपि में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं किये गये किन्तु कुछ ऐसे नये रूप अवश्य है जिनसे भ्रम और संदेह की गुंजाइश है। ह्रस्व 'इ' और दीर्घ 'ई' मात्राओं में केवल अत्यल्प आकार का अन्तर रहेगा। आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने इसके लिये यह रूप ि प्रस्तावित किया था। खडी पाई के अंत में वृत्ताकार वाला यह रूप दोनों में भ्रम का निवारण कर सकता था। मुद्रित पुस्तकों से यह भ्रम भले ही न हो, लेकिन हस्तलिखित रूप में इसकी काफी संभावना है। 'ख के नये रूप में 'ट' और 'व' का कभी कभी भ्रम हो सकता है। वर्तमान रूप से 'ख' का यदि 'र' 'व' से भ्रम होता था तो यह रूप भ्रमरहित नही है। नरेन्द्रदेव समिति ने इस भ्रम के निवारणार्थ 'र' का नया रूप 'ɿ' रखा था और 'ख' का चिह्न ज्यों का त्यों रखा। संयुक्ताक्षरों का नया रूप भी भ्रम से खाली नहीं हैं। वर्णों में हलन्त-रूप के प्रयोग में तनिक शिथिलता से शब्दों का उच्चारण बिल्कुल बदल जायेगा और यह कालान्तर में उर्दू जबान वालों के अनुसार 'आर्‌यावर्‌त'-आरयावरत हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं, प्रदेश का 'प्‌रदेश' फिर 'परदेश' पढ़ लिया जाना कोई नई बात नहीं होगी। 'भातृ' को 'भात्र' और 'मात्र' को भी 'मात्र' लिखा जायेगा और इस प्रकार शब्दों में एक भ्रम की संभावना है। 'श्र' संयुक्ताक्षर रूप स्वीकार किया गया है और इससे एक ही व्यंजन के लिये श और 'श्र' दो रूपों का अस्तित्व बना रहता है।

देवनागरी लिपि के उपर्युक्त कतिपय नये सुधारों के संबंध में बराबर टीका-टिप्पणी होती रही क्योंकि वे रूप अधिक व्यावहारिक नहीं थे। फलतः उत्तरप्रदेशीय सरकार की संरक्षा में १६ तथा २० अक्टूबर १९५७ को लखनऊ में प्रसिद्ध भाषाविदों, लेखकों, साहित्यिकों, विद्वानों आदि का एक लिपि-सुधार सम्मेलन आयोजित हुआ जिनमें ह्रस्व इ की मात्रा वर्णं

के बाईं ओर तथा प्रचलित संयुक्ताक्षरों का प्रयोग पहले की ही तरह करने का निश्चय किया गया। यथा-विजय, क्रम, कर्म, उष्ट्, विद्या आदि। सन् १९५७ ई० के सम्मेलन के अन्य सुधारों को शेष रहने दिया गया क्योंकि वे अधिक उपयोगी और व्यावहारिक सिद्ध हुये हैं।

अतः उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि देवनागरी लिपि में नये सुधार नई आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं एवं उसे सुस्पष्ट, पूर्ण और निश्चयात्मक रूप प्रदान करते हैं। फिर भी दो-एक परिवर्तनों में औरअधिक सुधार की गुंजाइश है, मात्राओं को वर्णों से हटाकर लगाने का प्रश्न अब भी विचाराधीन है। प्राचीन लिपि में कोई आमूल परिवर्तन नहीं किये गये, यह संतोष की बात है।

भाषा अथवा लिपि का कोई अस्वाभाविक विकास बहुत टिकाऊ नहीं होता। देवनागरी लिपि का नया स्वरूप कहां तक व्यावहारिक और सुबोध है यह उसके व्यापक प्रयोग से ही ज्ञात हो सकेगा। किन्तु यह अवश्य है कि इनसे यान्त्रिक सुविधाएँ यथेष्ट हो सकती हैं। जब देवनागरी राष्ट्र-लिपि के पद पर आसीन की गई है तो उसे अधिक व्यापक और पूर्ण बनाने के लिये कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्यंभावी है। देवनागरी लिपि की अपनी प्राचीन परंपरा अवश्य है किन्तु नये परिवर्तनों से उसकी वैज्ञानिकता पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। शब्द में व्यंजन के उच्चारण के उपरान्त ही स्वर का उच्चारण होता है। अतः ह्रस्व 'इ' की मात्रा व्यंजन के पहले न लग कर बाद में लगे, यह भी उसे और वैज्ञानिक बनाना था, इससें मुद्रण, टाइप आदि में जो सुविधा होती वह तो अलग की बात है। किन्तु चार वर्षों के बीच भी वह व्यावहारिक न बन सका और उसका परिवर्तन आवश्यक हो गया। देवनागरी लिपि का नया रूप अधिक देशव्यापी और ग्राह्य हो सकेगा, ऐसी संभावना है।

भारतीय लिपियों का परंपरागत इतिहास जैसा मिलता है वैसी ही भारतीय अंकों की भी एक पुरानी परंपरा है। प्राचीन काल में लिपियों के साथ साथ अंकों का भी प्रयोग होता था। उनके लिखने की

रीति में अन्तर अवश्य था। यह अनुमान किया जाता है कि १ से ९ तक की संख्या अकों में और शून्ययुक्त अकों को शब्द से प्रकट किया जाता था। १०, २०, ३०, ४०, १००, १००० आदि के लिये विशेष चिह्नो के उदाहरण मिलते है। दहाई से ऊपर वाली संख्याओं के लिये पहले दहाई का चिह्न फिर उसके आगे इकाई का अक रखा जाता था। जैसे २५ को लिखने के लिये पहले २० का चिह्न फिर ५ का अंक लिखा जाता था। कभी १०० के चिह्न में सीधी, तिरछी रेखाएं जोड़ कर २००,३०० आदि की सख्याओं को प्रकट किया जाता था। इसी प्रकार १००० के चिह्न में रेखाएं जोड़कर ५०००,६००० आदि को दिखाया जाता था। अको के ये रूप प्राचीन शिलालेखों, दानपत्रों, सिक्कों आदि में पाये जाते है। किन्तु अकों की इस शैली का और विकास हुआ जिस आगे स्पष्ट किया गया है।

लिपि-विकास के सदृश ही पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय अकों का सबध भी विदेशी अकों से जोड़ने का प्रयास किया है। कुछ भारतीय और पाश्चात्य लेखकों ने अंकों का स्वरूप उनके द्योतक शब्दों के प्रथम अक्षर के सदृश बताया है। भारतीय लेखक पं० भगवान लाल इन्द्र, पाश्चात्य विद्वान प्रिन्सेप इसी मत के हैं। किन्तु डा० बूलर, बर्नेल, आदि इस तथ्य से सहमत नही हैं क्योंकि अंकों के लिये अक्षर की कोई क्रमबद्ध परम्परा नहीं मिलती। साथ ही डा० बूलर, बर्नेल, इ० सी० बेले आदि ने भारतीय अंक-चिह्नों को फ़ोनिशी, मिस्त्री स्रोत का माना है। किन्तु म० म० गौरीशंकर हीराचंद ओझा आदि विद्वान इस मत के बिल्कुल विपरीत हैं। भारतीय अंक-चिह्नों का स्रोत मिस्त्र की हिएरोग्लिफिक अथवा इसका विकसित रूप हिएरेटिक, डेमोटिक या फ़ोनिशियन, बैक्ट्रियन, अक्केडियन आदि से नहीं माना जाता। क्योंकि भारतीय अकों के लिखने आर उक्त लिपियों के लिखने की रीतियां भिन्न हैं। भारतीय अंक बांये से दांये और विदेशी अंक ऊपर से नीचे लिखे मिलते हैं। डा० बूलर ने यह अनुमान लगाया कि प्राचीन काल में

भारतीय व्यापारियों का संबंध मिस्र-देश अथवा उसके अधीनस्थ देशों से था किन्तु विश्वस्त प्रामाणिक सूत्रों के अभाव में इस अनुमान का कोई महत्व नहीं माना गया है। मिस्त्र-स्रोत की उपरोक्त लिपियों में १ से ९ अंकों की रेखायें ऊपर से नीचे तथा १०, २०, ३०० आदि के लिये भी इसी ढंग के बने चिह्न मिलते हैं। २० के लिये १० के चिह्न दो बार, २०० के लिये १०० का चिह्न दो बार उसी ढंग से लिखा मिलता है। अंक-विकास का यह एक अविकसित रूप है। फ़ोनीशी अंक इसी से उद्भूत माने जाते हैं। इसमें २० के लिये विशेष चिह्न मिलता है, अंक-चिह्नों का क्रम वैसा ही है। ये अंक-चिह्न भारतीय अंक-चिह्नों से नहीं मिलते।

अशोक के लेखों में अंकों के भिन्न भिन्न रूप मिलते हैं। इससे अंक-चिह्नों की प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। ब्राह्मी लिपि में व्यवहृत अंक भारतीय हैं और खरोष्ठी लिपि के अंक विदेशी हैं क्यों-कि दोनों की लिखावट में अंतर है। भारतीय अंकों को उनकी विशेषता के कारण ब्राह्मणों द्वारा विकसित माना जाता है। भारतीय और उक्त विदेशी अंकों में केवल ९ का चिह्न तो थोड़ा मिलता है अन्य किसी का नहीं। मिस्र और भारत के अंक चिह्नों में एक समानता और मिलती है—वह है २० का अंक-चिह्न और उसमें रेखाएं आदि जोड़कर ऊपर की संख्याओं का विकास। इस समानता के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेना कि भारतीय अंक मिस्र-स्रोत के हैं गलत होगा क्योंकि १ से ९ की संख्याओं को लिखने का ढंग दोनों में भिन्न है। इसके विपरीत मिस्र की हिएरेटिक और डेमोटिक के कुछ अंक चिह्नों में बाईं ओर से

दाईं ओर लिखने के ढंग का स्पष्ट परिचय मिलता है। यथा ツ (२), ⁓ (८), ㄌ (२०) आदि। इससे अनुमान लगाया जाता है कि मिस्र के

अंक-चिह्न प्राचीन काल में भारतीय अंक चिह्नों से प्रभावित हुए। उक्त मिस्र अंक-चिह्न-प्राचीन अंक-चिह्न हिएरोग्लिफिक् के विकसित रूप माने गये हैं। किन्तु विकसित अंक चिह्नों में लिखने की रीति में उक्त

परिवर्तन का कारण भारतीय प्रभाव कहा जा सकता है। समान रूप में दोनों देशों के अंक-चिह्नों के स्वतंत्र रूप से विकास की संभावना कम जान पड़ती है। म० म० गौरीशंकर होराचन्द ओझा ने फोनीशी, मिस्र के अंक-चिह्नों तथा भारतीय अंक-चिह्नों के उदाहरण सम्राट् अशोक, कुशनवंशो राजाओं, क्षत्रियों तथा आन्ध्रों के लेखों से देकर स्पष्ट किया है कि भारतीय अंकों का विकास मौलिक रूप में हुआ है।

भारतीय प्राचान पुस्तकों में अंकों को शब्द अथवा अक्षर से व्यक्त करने की भी प्रथा के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। वैदिक वाङ्मय, शतपथ, तैत्रीय ब्राह्मण, सूत्र आदि ग्रंथों वराहमिहिर रचित पंचसिद्धांतिकी तथा अनेक ज्योतिष की पुस्तकों, ताम्रपत्र, शिलालेख आदि-में शब्दों से संख्याओं का बोध कराया गया है। जैसे ० (शून्य) के लिए गगन, तथा अनेक पर्याय, १ के लिए शशि, भूमि तथा इनके कई पर्याय, ४ के लिए वेद-श्रुति, आश्रम, दिशा आदि, ४० के लिए नरक, ४९ के लिए तान आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। ज्योतिष-ग्रंथ, शिला-लेख, दानपत्रों में अंकों के लिए अक्षर का प्रयोग भी हुआ है। संस्कृत वर्णमाला के प्रथम ५ वर्गों को प्रत्येक अक्षर से क्रमशः १ से २५ तक के अंक, य से ३०, र से ४०, ल से ५०, व से ६०, श से ७०, ष से ८०, स से ९०, ह से १००, ९ से दश हजार, लृ, ॠ से एक लाख, सृ से १० करोड़, ए से १० अरब आदि का बोध कराया जाता था। इस प्रकार अक्षरों से अंकों में प्रकट करने की पुरानी परंपरा प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि के काल तक मिलती है।

शून्य (०) के प्रयोग से नये अकों की एक नई शैली का विकास हुआ जिसे दशमलव पद्धति (decimal system) कहा जाता है। इसके अनुसार प्रत्येक अंक इकाई से बाईं ओर प्रयुक्त होने पर दशगुना हो जाता है। इस कारण इसे दशगुणोत्तर संख्या के नाम से भी कहा गया है। इस नई शैली के अंकों का व्यवहार ६९५ ई० से मिलता है। पंजाब में यूसुफजई ज़िले के बख्शाली गांव में भोजपत्र पर लिखी इस

शैली की एक पुस्तक प्राप्त हुई है जिसका रचना-काल डा० हार्नले ने ३००व ४०० ई० के लगभग माना है और डा० बूलर का अनुमान है कि अंक की इस नई शैली की प्राचीनता इससे भी पहले की हो सकती है। संसार के प्रायः सभी देशों में अंकों की इसी पद्धति का व्यवहार किया जाता है और इसका मूल-स्रोत भारत माना गया है। सर्वप्रथम अरबों ने इसे भारतवर्ष से सीखा और अरब से यह यूरोप में प्रवेश कर गया। अंग्रेजी भाषा के विश्वकोष (Encyclopædia Britanica) के अनुसार अंकों की यह पद्धति भारतीय स्रोत की है, ८ वीं, ९ वीं शताब्दी के लगभग यह अरब पहुँची और १२ वीं शताब्दी में अरबों के संपर्क से यूरोपीय देशों में प्रचलित हो गई। यह अलगोरिट्मस (अल्गोरिथम्) के नाम से प्रसिद्ध हुई। अरबी में अंकों को 'हिंदसह' कहा जाता है। हिंद (भारत) से लिए जाने के कारण उक्त नाम प्रचलित हो गया।

कुछ विद्वान इससे सहमत नहीं है। किन्तु अलबरूनी नामक प्रसिद्ध विद्वान भारत में कई वर्ष रहा है और उसने लिखा है कि भारतवर्ष में अंकचिह्नों के लिये विशेष रूप मिलते हैं और इसमें यहाँ के लोग अरबों से काफी बढ़े चढ़े हैं। बांई ओर १८ वें स्थान तक की संख्यायें मिलती हैं जिसे 'परार्द्ध' कहा गया है। वैदिक ग्रंथों में अंकों के अनेक उल्लेख मिलते हैं 'यजुर्वेद' संहिता के पुरुषमेध के प्रकरण मे १०००० के लिए 'अयुत', एक लाख के लिये 'नियुत', १० लाख के लिये 'प्रयुत', १ करोड़ के के लिये 'अर्बुद' आदि के उल्लेख किये गये हैं। शतपथ-ब्राह्मण में दिन-रात के समय का अंकों में बहुत सूक्ष्म भाग निकाला गया है। वैदिक साहित्य में छंदों के विवेचन, संस्कृत के छंद-शास्त्र ग्रंथों से स्पष्ट है कि अंकों के सम्यक् ज्ञान के बिना इनकी रचनाएँ किसी प्रकार संभव नहीं हैं। भारत का प्राचीन गणित-शास्त्र काफी उन्नत रूप में था, इसे प्रायः सभी आधुनिक विद्वानों द्वारा भली प्रकार स्वीकार किया गया है। यूरोपीय विद्वान 'के' ने स्वेच्छाचा तरीकों से इस मत का विरोध किया है। उन्होंने अपना मत अरबी के शब्द-व्युत्पत्ति-

विशेष. फीरोज अबदी पर आधारित किया है जिसने यह सिद्ध किया है कि 'हिंदसह' शब्द अरबी के 'अंदाज' शब्द से विकसित हुआ है। श्री 'के' का मत अन्य विद्वानों—म० म० गौरीशंकर हीराचंद ओझा आदि को मान्य नहीं है। अन्य सूत्रों से भी उक्त मत प्रमाणित नहीं होता।

अतएव भारतीय लिपि और अंकों की प्राचीनता देखते हुए यही जान पड़ता है कि इनका आविष्कार भारतीय प्रयास का मौलिक परिणाम है। अंकों की दशमलव-पद्धति भारत की देन है। अंकों की यह शैली इतनी उपयोगी सिद्ध हुई कि आज सभी देशों में इसका व्यवहार किया जाता है। भारतीय सिक्कों में भी इस पद्धति का अनुसरण १ अप्रैल, १९५७ से आरम्भ हो गया है। भारतीय संविधान में नागरी अंकों की अपेक्षा रोमन अंकों को प्रश्रय दिया गया है क्योंकि उनका अन्तर्राष्ट्रीय महत्व अधिक हैं और वे संसार भर में प्रयुक्त किये जाते हैं। रूस महादेश में भी इसी का प्रयोग होता है फिर इन रोमन अंकों का मूल आधार भारतीय अंक ही हैं और अरबों के द्वारा ये यूरोप में पहुँचे और व्यावसायिक दृष्टिकोण से रोमन अंकों का प्रयोग अधिक सहज हैं। किन्तु जब भारत की राष्ट्र-लिपि देवनागरी मान ली गई है तो नागरी अंक जो उसका एक अवि-च्छिन्न अंग है उसे भी मान्यता मिलनी चाहिए। जब दोनों प्रकार के अंकों की शैली एक ही है, केवल उनकी आकृतियों में ही थोड़ा अन्तर है तो राष्ट्रीय कार्य-व्यवहार के लिये नागरी अंकों को ही अप-नाया जाना समीचीन है। आशा है, भविष्य में राष्ट्रीय भावनाओं के उन्नत होने के साथ-साथ देवनागरी लिपि और भारतीय अंकों को पूर्ण प्रश्रय प्राप्त हो सकेगा।

देवनागरी लिपि का विकास

स्वर

अ - H, Ӈ, ℋ — अ

इ - ∴, ∞, ॡ, इ, — इ

उ - L, Ꮭ, ℨ, — उ

ए - △, ▽, ▽, ▽, — ए

व्यञ्जन

क - +, ᚐ, क, क, — क

ख - 2, 2, ℨ, ख — ख

ग - ∧, ᑎ, ग, — ग

घ - ᒍ, ш, ш, घ, — घ

ङ - Ꮭ, Ꮭ, ३, ङ — ङ

च - ∂, ∂, च, च, — च

छ - ф, ф, ф, ф, छ — छ

ज - E, F, ज, ज — ज

झ - ʮ, ʮ, झ, झ — झ

ञ - ℎ, ℊ, ञ, ञ, — ञ

ट - ᑕ, ᑕ, ट, — ट

ठ - o, ơ, ठ, — ठ

ड - ᑯ, ζ, ड, ड, — ड

ढ - ɕ, ɕ, ढ, — ढ

ण - I, ℳ, ण, ण, ण, — ण

त - ⋏, ᚷ, त, — त

थ - ⊙, Θ, Θ, थ, थ — थ

द - ᑲ, ᑯ, द, द, — द

ध - D, ᑫ, ᑫ, ध, — ध

न - ⊥, ᚷ, न, — न

प - ᒐ, ᒐ, प, प, — प

फ - ᑲ, ᑲ, फ, फ, — फ

ब - □, □, □, ब, — ब

भ - ᑯ, ᚢ, ᚢ, भ, — भ

म - ४, ४, ᒐ, म, — म

य - ⊥, ᚹ, य — य

र - J, ᒍ, ᒍ, र, — र

ल - ᒐ, ᒐ, ल, ल, — ल

व - ♁, ▵, व, व, — व

श - ᕱ, ᕱ, श, — श

ष - ᒪ, ष, ष, ष, — ष

स - ᒐ, ᒐ, स, — स

ह - ᒐ, ᒐ, ह, — ह

अंक

—, ~, ~, १, — १

=, ≈, ≈, २, — २

≡, ≡, ३, — ३

+, ᚷ, ᚷ, ४ — ४

ᑲ, ᑲ, ५, — ५

६, ६, ६, — ६

७, ७, ७, — ७

ᑲ, ᑲ, ३, ८, — ८

?, ?, ?, ९, ६, ९ — ९

संकेत-चिह्न

अं०	अंग्रेजी	अ̆—ह्रस्व अ
ई०	ईसवी	आ—प्रधान अग्रस्वर
उदा०	उदाहरण	इ̆—ह्रस्व इ
एक०	एकवचन	उ̆—ह्रस्व उ
पु०	पुंलिंग	ई̥,उ̥—फुसफुसाहट वाले इ, उ स्वर
फा०	फारसी	ए̆—ह्रस्व ए
बहु०	बहुवचन	ओ̆—ह्रस्व ओ
सं०	संस्कृत	न̥,म̥—स्वर रूप
हिं०	हिन्दी	च̥,ज̥—वर्त्स्य स्पर्श-संघर्षी (च,ज अंग्रेज़ी)
		ट̥,ड̥—वर्त्स्य स्पर्श (ट,ड अंग्रेज़ी)
		ळ—मूर्धन्य पार्श्विक व्यंजन

विशेष-चिह्न

7 पूर्व-रूप से पर-रूप का विकास-चिह्न

∠ पर-रूप से पूर्व-रूप का विकास-चिह्न

❀ संभावित शब्द रूप

√ धातु-चिह्न

= बराबर का चिह्न

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	१३	स्वाराघात	स्वराघात
१९	७	प्ररित	प्रेरित
२१	१	ोती	होती
५१	४	—	में
५४	१०	हा	ही
५४	२४	वशेष	विशेष
५६	१०	कापन्न	का रूप
७१	४	कतृ	कर्तृ
७१	१८	अप	अय
७३	१	अतिशता	अतिशयता
७९	१	व्यपकता	व्यापकता
,,	२१	की	कि
७६	१	लालित्य	लालिमा
८१	५	वर्णानार्थ-	वर्णानामार्थ-
१०४	१३	अर्था	अर्थात
१११	१६	पात	पातीं
१२१	१०	फ़्रेंच	फ़ीज़ी
१५०	१	तथा	×
१५७	१९	विश्लेषपणात्मक	विश्लेषणात्मक
१८७	१४	विशेताएँ	विशेषताएँ
१८९	२७	तात्कालिक	तत्कालीन
२११	१२	ब्राह्मी	ब्रह्मा
२१२	१०	लखने	लिखने
२२३	२७	ोक	को

—:o:—

भारतीय विद्याभवन के प्रकाशन
(१) गृह-भारती

इस पुस्तकमाला के अंतर्गत साहित्य और भाषाशास्त्र, इतिहास और जीवनी, कला और पुरातत्त्व, धर्म और दर्शन, समाजशास्त्र और विज्ञान आदि विषयों पर डबल-क्राउन सोलह पेजी आकार में लगभग दो-दो सौ पृष्ठों की पुस्तकें प्रकाशित करने का आयोजन है। पुस्तकें शास्त्रीय स्तर की, किन्तु ऐसी भाषा में लिखी गई होंगी कि साधारण पाठकों को सहज में बोधगम्य हों। प्रत्येक पुस्तक प्रायः ६० से ७५ हज़ार शब्दों की होगी और समान आकार-प्रकार में नयनाभिराम ढंग से मुद्रित तथा सजिल्द होगी और आवश्यकतानुसार चित्रादि से सुसज्जित होगी।

पुस्तकों के नीचे लिखे हुए शीर्षक सांकेतिक-मात्र हैं और उनमें हेर फेर हो सकता है। इस पुस्तक माला में १०० पुस्तकें प्रकाशित की जायेंगी।

साहित्य व भाषा-शास्त्र

वेद-परिचय
संस्कृत-साहित्य
कालिदास
रवीन्द्र नाथ
रूसी साहित्य
सिद्ध साहित्य
चीनी साहित्य
भाषा-विज्ञान
भारतीय भाषाएँ
चीनी आत्मशिक्षक

विस्मृत सभ्यता

महात्मा गाँधी
आइंस्टाइन
कला और पुरातत्त्व
भारतीय पुरातत्त्व
भारतीय संगीत
भारत के नृत्य
भारतीय मूर्ति-कला
भारतीय चित्रकला
कला-मीमांसा
यूरोपीय कला

इतिहास और जीवनी

भारतीय संस्कृति का इतिहास
भारत के लोगों का इतिहास
संसार के इतिहास की झांकी

धर्म और दर्शन

भारतीय दर्शन की रूप रेखा
पूर्वी तथा पश्चिमी दर्शन
संसार के महान धर्म

भारत-गौरव
वृहत्तर-भारत
समाज-शास्त्र
लोक वार्ता
आधुनिक राज्य-व्यवस्था
न्याय-शास्त्र
राजनीति के सिद्धांत
भारतीय अर्थ-व्यवस्था
अर्थ-शास्त्र के सिद्धांत
आधुनिक संविधान
भारतीय संविधान
शिक्षा-मनोविज्ञान
समाचार-पत्र
भारतीय ग्राम-समाज
बनजारे
विकास योजनायें
कृषि-व्यवस्था
घरेलू उद्योग-धंधे
आधुनिक मनस्तत्व
अरविंद की विचारधारा

विज्ञान

मानव विज्ञान
विज्ञान की रूपरेखा
आधुनिक भूगोल
आकाशविद्या
जीवन-रहस्य
विकासवाद
परमाणु के चमत्कार
सापेक्षवाद
भू-तत्त्व

विविध

आहारशास्त्र
काम-शास्त्र
रोगी-चर्या
घरेलू उपचार
प्राचीन भारत के मनोरंजन

(२) अमर भारती

इस पुस्तक-माला के अंतर्गत संसार का सर्वोत्तम साहित्य मूल भाषा से जैसे अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, इटालियन, स्पेनिश, रूसी, यूनानी आदि पाश्चात्य व चीनी, जापानी, अरबी, फारसी आदि एशियाई एवं संस्कृत तामिल, तेलगु, मलयालम् आदि भारतीय भाषाओं से हिन्दी भाषान्तर, कराकर प्रकाशित करने की योजना है। इस योजना में सर्वप्रथम यूनेस्को द्वारा चुनी गई विश्व साहित्य की २०० पुस्तकों का प्रकाशन प्रारंभ कर दिया गया है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

१	उदय नारायण तिवारी	भोजपुरी भाषा और साहित्य
२	"	हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास
३	कपिल देव शास्त्री	अर्थ-विज्ञान और व्याकरण-दर्शन
४	कामता प्रसाद गुरु	हिन्दी व्याकरण
५	गौरीशंकर हीराचंद ओझा	प्राचीन लिपि माला
६	धीरेन्द्र वर्मा	हिन्दी भाषा का इतिहास
७	"	ब्रजभाषा
८	बाबूराम सक्सेना	सामान्य भाषा-विज्ञान
९	"	दक्खिनी हिन्दी
१०	"	अर्थ-विज्ञान
११	मंगल देव शास्त्री	भाषा-विज्ञान
१२	वासुदेव शरण अग्रवाल	पाणिनि कालीन भारत
१३	सुनीत कुमार चटर्जी	राजस्थानी भाषा
१४	सरयूप्रसाद अग्रवाल	प्राकृत-विमर्श
१५	श्यामसुन्दर दास	भाषा-विज्ञान

अंग्रेजी

1. Armfield, N.—General Phonetics.
2. Bloomfield, L.—Language.
3. Bloch, Jules—Grammatical structure of Dravidian languages.
4. Breal, M.—Semantics (English translation).
5. Bloch and Trager—Outline of Linguistic Analysis.
6. Caldwel, R.—A comparative Grammar of Dravidian Languages.
7. Carrol, J. B.—The study of Language.

8. Chatterji, S. K.—The Origin and Development of Bengali Language Pt. I.
9. „ „—Indo Aryan and Hindi.
10. Chakravarti, P.C.—The Linguistic Speculations of the Hindus.
11. Diringer, D.—Alphabet.
12. Gune, P.D.—An Introduction to Comparative Philology.
13. Gleason H.—An Introduction to Descriptive Linguistics.
14. Gray,L. H.—Foundations of Language
15. Grierson, G. A.—Linguistic Survey of India.
16. Jesperson, O.—Language its Nature, Development and Origin.
17. Jones, D.—An outline cf English Phonetics.
18. Kellogg, H.—Grammar of Hindi Language.
19. Pandey, R. B.—Indian Palæography.
20. Sapir, E.—An Introduction to the study of Speech.
21. Sturtevant, E. H.—An Introduction to Linguistic Science.
22. Sen, S.—Comparative Grammar of Middle Indo Aryan.
23. Saxena, B. R.—The Evolution of Awadhi.
4. Turner, R. R.—Nepali Dictionary.
25. Tucker, T. G.—Introduction to the Natural History of Language.
26. Taraporewala, J. G. S.—Elements of the Science of Language.
27. Vendryes, J.—Language.
28. Woolner, A. C.-Introduction to Prakrit.